साहित्यिक निबन्ध

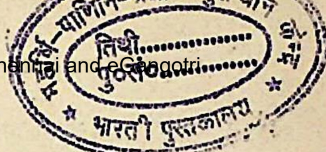
12.2

म० म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी



विषय-सूची

अन्य प्रबन्ध





भूमिका

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह अपने विचार दूसरों के सम्मुख प्रकट करना चाहता है और दूसरों के विचार स्वयं जानना चाहता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विशेषता है। शिक्षा का कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य को सुन्दर और सशक्त ढंग से अपने विचार प्रकट करने की शक्ति प्रदान करे। विचार-प्रकाशन मुख द्वारा हो सकता है या लेखनी द्वारा। अतः शिक्षा भाषण-शक्ति और लेखन-शक्ति दोनों का विकास करे। पर वर्त्तमान शिक्षा द्वारा यह कार्य भली-भाँति सम्पादित नहीं होता। उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी अधिकांश व्यक्ति न तो मौखिक भाव-प्रकाशन में समथन होते हैं, न लेखनी चलाने में। स्कूलों और कॉलेजों में मौखिक भाव-प्रकाशन पर तो कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। लेखनी चलाने पर जो थोड़ा-बहुत ध्यान दिया जाता है वह पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित रह जाता है, उससे स्वतन्त्र रचना-शक्ति पैदा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। विद्यार्थियों को न तो कविता-रचना सिखलाई जाती है, न निबन्ध-रचना और न कहानी-रचना। यद्यपि निबन्ध-रचना पर परीक्षाओं में प्रश्न पूछे जाते हैं, तथापि अध्यापक-गण इस ओर ध्यान नहीं देते। फलतः विद्यार्थी इस कला से अनभिज्ञ रहते हैं। यहाँ हमें इसी कला पर विचार प्रकट करना है।

निबन्ध—लेखन

निबन्ध या प्रबन्ध वह गद्य-रचना है जिसमें किसी विषय पर आकर्षक और सरल शैली में किसी लेखक के क्रमबद्ध विचार प्रकट किए गए हों। इस प्रकार निबन्ध के दो अङ्ग ठहरते हैं—(१) विचार समूह या सामग्री (Matter) और (२) शैली (Style)। निबन्ध-लेखक की सफलता बहुत कुछ सुन्दर शैली पर निर्भर रहती है। पर इसका यह आशय नहीं है कि सामग्री अनावश्यक वस्तु है। उसकी भी अपनी उपयोगिता है। चाहे शरीर को कितना ही सुसज्जित किया जाय, किन्तु प्राणों के अभाव में सुन्दर नहीं लगेगा।

विचार समूह या सामग्री

किसी विषय पर लेखनी चलाने के पूर्व उसकी सामग्री जुटाने के लिए उस पर मनन करना चाहिए। मनन करने से जो विचार मस्तिष्क में आवें उन्हें लिख लिया जाय। कोई विषय-सम्बन्धी विचार उसी के मस्तिष्क में अधिक आ सकते हैं जिसने उस विषय का अच्छा अध्ययन किया है। वास्तव में निबन्ध लिखने के लिए विस्तृत अध्ययन और निरीक्षण की नितान्त आवश्यकता है।

विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपनी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अवलोकन करे और अपने ज्ञानभंडार में नित्य-प्रति अभिवृद्धि करता जाय। पुस्तकें केवल मनोविनोदार्थ ही न पढ़ी जायँ वरन् उनके अध्ययन से कुछ नवीन विचार, कुछ नवीन बातें अवश्य ग्रहण की जायें। यदि किसी पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् हमारा ज्ञान-भंडार ज्यों का त्यों रहा तो समझिए कि उसके पढ़ने में हमने अपना अमूल्य समय यों ही खो दिया। सच्चा अध्ययन वही है जो हमें कुछ नई बातें सिखलावे।

अध्ययन के साथ-साथ निरीक्षण भी वांछनीय है। अध्ययन द्वारा हम दूसरों से कुछ सीखते हैं। निरीक्षण द्वारा हम स्वयं अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं। जो बात स्वय निरीक्षण से ग्रहण की जाती है उसका महत्त्व उस बात की अपेक्षा कहीं अधिक होता है जो अध्ययन से प्राप्त की जाती है, क्योंकि निरीक्षण में प्रत्यक्षानुभव के कारण किसी बात को समझने और उसे स्मृति पटल पर अंकित करने की शक्ति अन्तर्निहित रहती है। अतः हमें निरीक्षण से अवश्य सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक घटना, जो हमारे सामने घटित हो, हमें ध्यान-पूर्वक देखनी चाहिए। हम जहाँ कहीं जायँ वहाँ के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान आदि से परिचय प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ सदैव सजग रखनी चाहिये जिससे हमारे आस-पास की वस्तुयें हमारे निरीक्षण से बाहर न रह सकें।

कोई विषय सम्बन्धी विचारों को लिख लेने के बाद निबन्ध की रूप-रेखा (संकेत अथवा ढाँचा) बनाना चाहिए। रूप-रेखा में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। अनावश्यक बातें जहाँ तक हों न रक्खी जायँ और विचारों को

क्रमबद्ध लिखा जाय। मान लीजिए 'महात्मा गांधी' पर लेख लिखना हैं। लेखक को चाहिए कि अपनी रूप-रेखा में पहले 'गांधी जी के आविर्भाव के समय भारत की दशा' लिखे फिर 'उनका प्रारम्भिक जीवन', 'वकालत', 'अफ्रीका में सत्याग्रह' आदि अन्य बातें लिखे। यदि वह पहिले 'प्रारम्भिक जीवन' लिखकर, 'आविर्भाव के समय भारत की दशा' लिखेगा तो क्रम भंग हो जायगा जिससे निबन्ध का सारा मजा मिट्टी हो जायगा।

रूप-रेखा के एक-एक विचार को बढ़ाकर निबन्ध के एक-एक परिच्छेद। (पैराग्राफ) में लिखना चाहिए। इसके आदिम और अन्तिम विचार या बात को क्रमशः 'प्रस्तावना' और 'उपसंहार' नाम देना चाहिए। यह ध्यान रहे कि लेख में कोई भी ऐसी बात न लिखी जाय जो विषय की सीमा से बाहर हो। इसके अतिरिक्त किसी बात की पुनरावृत्ति न की जाय और विचारों में सर्वत्र संगति बनी रहे।

शैली

निबन्ध-रचना समास शैली में की जाय, व्यास शैली में नहीं। भावों और विचारों को थोड़े शब्दों में व्यक्त किया जाय। Brevity is the soul of wit के अनुसार संक्षेप में विचार-व्यंजना बुद्धिमत्ता की आत्मा है।

इसके अतिरिक्त विचारों में सर्वत्र भावात्मक पुट हो। जो बात कही जाय वह भाव की लपेट में कही जाय, जिससे वह सीधी हृदय पर चोट करे।

शैली में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु भाषा है। निबन्ध की भाषा शुद्ध, स्पष्ट और सुबोध हो। उसमें दुरूहता कहीं न आने पावे। कुछ लोगों की धारणा है कि रचना में क्लिष्ट से क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करने से सुन्दरता आ जाती है। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। भाषा की कठिनता तो रचना के सौन्दर्य पर कुठाराघात करती है।

भाषा में धारा-प्रवाह का भी गुण होना चाहिए। निबन्ध पढ़ने वाले को कहीं भी रुकावट का अनुभव न हो। वह एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक सरकता सा चला जाय। धारा-प्रवाह के लिए यह आवश्यक है कि वाक्यों में स्वाभाविक सम्बन्ध हो। वे आपस में एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े हों जिस प्रकार शृङ्खला की कड़ियाँ। वाक्य जहाँ तक हो सके छोटे-छोटे लिखे जायँ,

क्योंकि लम्बे-लम्बे वाक्यों का ठीक-ठीक निर्वाह करना कठिन होता है। अधिकांश विद्यार्थी इस प्रकार के वाक्य लिखने में त्रुटियाँ करते हैं। लम्बे-लम्बे वाक्यों का कभी-कभी मतलब भी गुम हो जाया करता है।

भाषा सशक्त और फड़फड़ाती हुई लिखी जाय जिससे पाठक प्रभावित होकर निबन्ध को अन्त तक पढ़ता हुआ चला जाय। इसके लिये इस बात का ध्यान रहे कि वाक्य के जिस अंश पर जोर देना हो उसे वाक्य के आदि अथवा अन्त में रक्खा जाय। जैसे—यदि भारतीय कष्टों के अन्त का कोई एक मात्र साधन है तो वह स्वराज्य है। कभी-कभी किसी बात को जोरदार बनाने के लिए उसे प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादिसूचक वाक्य में लिखते हैं। जैसे—ज्ञान-प्रसार में किस प्रकार विदेशी भाषा मातृभाषा की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है? (२) कैसे रमणीय, कैसे सुहावने, कैसे सुन्दर दृश्य हैं? यदि इन वाक्यों को साधारण रूप में—(१) ज्ञान-प्रसार में विदेशी भाषा मातृ-भाषा की अपेक्षा सफल नहीं हो सकती है। (२) दृश्य रमणीय, सुन्दर और सुहावने हैं—रख दिया जाय तो इनमें शिथिलता आ जायगी। कहीं-कहीं वाक्य या वाक्यांश के आदि अथवा अन्त में एक ही शब्द या शब्द-समूह की पुनरावृत्ति से भी भाषा में अच्छी शक्ति आ जाती है जैसे—(३) महात्मा गाँधी के प्रौढ़ मस्तिष्क से प्रसूत यह शिक्षा निस्संदेह हमारे बालकों का कल्याण करेगी, निस्संदेह हमारे देश को ऊँचा उठायेगी, निस्संदेह हमें निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करेगी। (२) जो आज उत्कर्ष के शिखर पर चढ़ा हुआ है, वह कल अपकर्ष के गर्त में गिर जायगा। जो आज अधोगति के अंधकूप में पड़ा हुआ है वह कल ऊर्ध्वगामी होगा जो आज भूख से तड़फड़ाता फिरता है वह कल भोजन से ढक जायगा। जो आज समृद्धि के समुद्र में सैर कर रहा है वह कल दाने-दाने को तरसेगा।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा रोचक हो जाती है; जैसे—'विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना टेढ़ी खीर है'; यह वाक्य—विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना कठिन काम है—इस वाक्य से कहीं अधिक रोचक है। अतः लेख में इनका प्रयोग करना चाहिये। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि अन्य भाषाओं से अनुवाद करके मुहावरे अथवा लोकोक्तियाँ न रक्खी जायें,

प्रगतिवाद खड़ी बोली कविता का नवीनतम क्षेत्र है। इसे छायावाद की प्रतिक्रिया समझिए। कल्पना के दिशाहीन अनन्त आकाश में उड़ान भरने वाली कविता अब जनपूर्ण धरती पर अपने पैर टिकाने लगी है। प्रगतिवादी कविता में साम्यवादी भावनाओं की व्यंजना होती है। उसमें शोषित, पीड़ित कृषकों एवं श्रमिकों के करुणामय जीवन का चित्रण किया जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

> वे भूखे अधखाए किसान भर रहे जहाँ सूनी आहें,
> नंगे बच्चे चिथड़े पहने माताएं जर्जर डोल रहीं,
> है जहाँ विवशता नृत्य कर रही धूल उड़ाती हैं राहें।"

अन्त में यही कहना है कि खड़ी बोली की कविता का भविष्य उज्ज्वल है। उसमें प्रौढ़ता एवं रमणीयता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। पर एक दुष्प्रवृत्ति अवश्य खटकती है। हमारी कविता कुछ अंशों में दूसरी भाषाओं की कविताओं की नकल कर रही है। यह उसे शोभा नहीं देता। जिन बातों की नकल करने से हमारी कविता का रूप विकृत होता जा रहा है, उसकी शक्ति कम होती जा रही है, वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होती जा रही है, उनके परित्याग में ही हमारा हित है। हमें अपनी कविता का स्वतन्त्र विकसित रूप लेकर विश्व में खड़ा होना चाहिए।

काव्य राष्ट्र के सुख और दुःख का प्रतिबिम्ब है

रूप-रेखा –

(१) प्रस्तावना—काव्य और मानव-जीवन का सम्बन्ध
(२) कवि पर समाज का प्रभाव
(३) काव्य में सामाजिक भावनाओं का चित्रण
(४) काव्य राष्ट्र के सुख-दुःख का प्रतिबिम्ब है—
 (क) रीतिकालीन काव्य का उदाहरण
 (ख) आधुनिक कालीन काव्य का उदाहरण
(५) उपसंहार—सारांश

काव्य वह साधन है जिसके द्वारा सृष्टि के साथ मनुष्य के रोगात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा मानव-हृदय का सम्बन्ध समस्त जीवधारियों---जीवधारियों ही क्यों, समस्त प्रकृति के साथ स्थापित किया जाता है। यों तो जड़-चेतन सभी काव्य-क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते हैं, सभी का प्रतिपादन काव्य में होता है, किन्तु मानव-जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसमें जीवन की विविध दशाओं का उद्घाटन किया जाता है।

जिस समाज, जिस राष्ट्र में कवि उत्पन्न होता है अथवा जीवन व्यतीत करता है उसके सुख-दुख की भावनाएं उसकी कृति में प्रकट हुए बिना नहीं रह सकतीं। साहित्य समाज का दर्पण है। समाज साहित्य में सदैव अपना प्रतिबिम्ब फेंकता रहता है। कैसे ? मनुष्य पादप-सदृश है। जिस प्रकार पौधे पर मिट्टी, जल, वायु और प्रकाश का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य जिस वातावरण, जिस परिस्थिति, जिस दशा में होता है उसका प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। देश-काल के प्रभाव से कौन बच सकता है ? प्रायः देखा जाता है कि एक स्थान के पेड़ जिस प्रकार के फल देते हैं उसी प्रकार के पेड़ अन्य स्थान पर वैसे फल नहीं देते। जैसा अमरूद इलाहाबाद का होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। काश्मीर का सा सेब दूसरे स्थान पर नहीं मिल सकता। चमन का अंगूर देशी अंगूर से कहीं अच्छा होता है। नागपुर का संतरा सर्वोत्कृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वातावरण के अनुसार जीवन का विकास होता है। समाज का वातावरण मनुष्य का वातावरण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते समाजिक वातावरण में पृथक नहीं रह सकता। यह सच है कि वह अपने व्यक्तित्व से समाज को कुछ हद तक प्रभावित कर सकता है। वह स्वयं समाज के वातावरण से बहुत कुछ प्रभावित होता रहता है। तुलसीदासजी सरीखे अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा भी समाज के प्रभाव से न बच सके। उनकी सभी कृतियों पर उनके समकालीन समाज की गहरी छाप है। जिस प्रकार बालक माता के स्तन्य से पुष्ट होकर बड़ा होता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज की

भावनाओं, विचारों, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को बीज रूप में प्राप्त करके फूलता-फलता है।

जब मनुष्य साहित्य का सृजन करता है तब वे ही भावनाएँ, वे ही विचार, वे ही रूढ़ियाँ, जिन्होंने उसके सारे जीवन को ओत-प्रोत कर रक्खा है उसकी लेखनी के मार्ग से निकल चलती हैं। इस प्रकार साहित्य पर समाज का प्रभाव पड़ता रहता है। समाज उसे अपने अनुरूप बनाता है। यह स्वाभाविक नियम सभी देशों में, सभी कालों में, सभी जातियों में, सभी राष्ट्रों में निरन्तर अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता रहता है।

अतः काव्य में राष्ट्र के सुख-दुख का रूप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। हमारा काव्य इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। मुगल-काल में भारतीय राष्ट्र सुख-सम्पन्न था। हिन्दू-जाति के दिन फिर चुके थे। अब उसके साथ मुसलमानों का दुर्व्यवहार नहीं होता था। मुसलमान उनसे हिल-मिलकर रहने लगे थे। राष्ट्र धन-धान्य पूर्ण था। सब प्रकार के सुख-साधनों के बाहुल्य से क्या राजा, क्या प्रजा - दोनों विलासिता की धारा में प्रवाहित हो रहे थे, विलासिता के सागर में निमग्न हो रहे थे। अतएव राष्ट्र के सुखमय और विलासपूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब काव्य पर पड़ना अवश्यम्भावी था। कविगण विलास की उन्माद-कारिणी उक्तियों से काव्य को भरने लगे, राधा-कृष्ण की ओट में वासनामय प्रेम उद्भावना करने लगे, वे मस्ती के साथ शृङ्गार-रस की पिचकारियाँ छोड़ने लगे। वे नायिकाओं का श्रेणी-विभाग करते, उनके पद नख से लेकर शिखा तक के अंग-प्रत्यंग का नग्न वर्णन करने और ऋतुओं को केवल नायक-नायिका के विभाव, अनुभाव आदि के उद्दीपन करने की सामग्री बनाने लगे। वे वासकसज्जा से टायम-टेबिल के अनुसार सेज सजवाने, अभिसारिका की नींद हराम करके उसे आधी रात में घुमाने, प्रेषित-पतिका के विरह से सुलगते हुए शरीर के धुएँ से कौवे काले करने या अश्रु प्रवाह से समुद्र खारे करने या उसके द्वारा चन्द्रमा को कोसवाने लगे। वे विलासी एवं अकर्मण्य नरपतियों के लिए इस प्रकार के मसाले तैयार करने लगे—

"गुलगुली गिलमें, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चिक हैं, चिराकें हैं, चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर है गजक गजा हू सजी,
सज्जा है, सुरा है, सुराही है, सुप्याला है ॥

वे मन को विकृत करने वाली—

"वढ़ति निकसि कुच-कोर-रुचि, वढ़त गौर भुज भूल।
मन लुटिगो लोटन चढ़त चूँटत ऊँचे फूल ॥"

अथवा

"ताहि देखि मन तीरथनि विकटनि जाय वलाय।
जा मृगनैनी के सदा, वैनी परसित पाय ॥"

सरीखी गंदी उक्तियों द्वारा राष्ट्र की कलुषित मनोवृत्ति का परिचय देने लगी।

आधुनिक-काल के काव्य में आजकल की प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही हैं। अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार से लोगों में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की भावनाएँ तो जाग्रत हो गई हैं, किन्तु राजनीतिक वातावरण उनके प्रतिकूल है। वे पश्चिम के सामाजिक विचारों से प्रभावित हो चुके हैं, किन्तु अपने समाज की रूढ़ियों के कारण विवश हैं। आर्थिक दशा भी सन्तोषप्रद नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में राष्ट्र दासत्व की वेड़ियों में जकड़ा हुआ स्वतन्त्रता का स्वप्न देखता रहा है। इन सब परिस्थितियों ने जन-साधारण के जीवन को नीरस और दुःखी वना दिया है। कवियों की रचनाओं पर इसकी छाप पड़ रही है। वर्त्तमान काव्य वेदना, करुणा, निराशा के भावों से ओत-प्रोत है। यह राष्ट्र की दुर्दशा पर अश्रुपात कर रहा है। कहीं पर उसमें इस प्रकार की उक्ति मिलती है—

"अवला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी ॥"

तो कहीं पर इस प्रकार की—

"परिमल हीन पराग दाग सा बना पड़ा है।
हा! यह प्यारा वाग खून से सना पड़ा है!"

यह छायावादी युग है कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की व्यंजना ...तीकात्मक रूप में करते हुए देखे जाते हैं। गुप्तजी ने छायावाद की रचनाएं ... हैं जो 'झंकार' नाम से संगृहीत हैं। यह नमूना वहीं से उद्धृत किया ...ता है—

"मुझमें सभी दैन्य दूषण हैं, वस्त्र नहीं क्या आभूषण हैं ?
किन्तु यहाँ लज्जित पूषण हैं, अपना क्या दिखलाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत हैं, किसमें होकर आऊँ मैं ?

वर्त्तमान कविता में प्रकृति-अनुराग देखा जाता है। प्राचीन कविता में ...सकी कमी थी। आजकल हमारे कवि दृश्यों के सुन्दर चित्र उपस्थित कर ...हे हैं। गुप्तजी का प्रकृति चित्रण उत्कृष्ट होता है। उसकी समानता कदाचित् ...किसी भी वर्त्तमान कवि का प्रकृति-चित्रण नहीं कर सकता। गुप्तजी की अन्तरात्मा प्रकृति में पूर्णतः लीन हुई है। देखिये—

"फैलाये यह एक पक्ष, लीला किये,
छाती पर भर दिए अंग ढीला किए,
देखो ग्रीवाभंग-संग किस ढङ्ग से,
देख रहा है हमें विहंग उमंग से।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने वर्त्तमान काल की सभी प्रवृत्तियों को अपने काव्य में स्थान दिया है और ऐसा करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली ...। वे आजकल के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सत्काव्य की आवश्यकताएं

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना – काव्य-रचना का उद्देश्य
(२) सत्काव्य की आवश्यकताएं—
(क) जीवन से अटूट सम्बन्ध
(ख) नीति और मर्यादा की रक्षा
(ग) भावुकता

(घ) वास्तविकता

(ङ) सादगी

(३) उपसंहार—सत्काव्य द्वारा समाज का हित

सत्काव्य की आवश्यकताएं क्या हैं? इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि काव्य-रचना क्यों की जाती है, इसका क्या उद्देश्य होता है? व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाय तो काव्य-सृजन काव्यकार की सन्तुष्टि के हेतु होता है जैसा गोस्वामीजी के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निवन्ध मति मंजुल मातनोति॥"

जब काव्यकार के हृदय-समुद्र का वाह्य परिस्थितियों द्वारा मंथन होता है तव उसमें भाव-लहरें उठने लगती हैं। उस समय वह उन्हें व्यक्त करने के लिए विकल हो जाता है। अतः कविता की उत्पत्ति होती है। समाज की दृष्टि से देखा जाय तो काव्य-रचना का उद्देश्य समाज का कल्याण करना ठहरता है। काव्य जीवन की आलोचना है। उसमें जीवन का उत्थान-पतन, अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, प्रदर्शित करके जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं जिससे जनसमुदाय का पथ-प्रदर्शन हो सके। उनके निर्माता की पैनी दृष्टि समाज के विविध अङ्गों का, समाज की व्यवस्था का भलीभाँति निरीक्षण करती है और वहाँ जो कुछ अभाव दिखाई पड़ता है उसका भावात्मक सजीव चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करके सुधार की योजना करती है।

अब प्रश्न उठता है कि किस प्रकार की काव्य रचना से पूर्णतया इस उद्देश्य की पूर्ति हो। जीवन के अन्तर्गत मानव-जीवन ही नहीं प्रकृति-जीवन भी सम्मिलित समझना चाहिए। प्रकृति हमारी चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की बड़ी शक्ति है। कुछ कला के पुजारियों का विवाद है कि काव्य और जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। काव्य एक कला है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। उसे जीवन से क्या काम? उत्तर में हमें यह कहना है कि काव्यकार एक जीवधारी व्यक्ति होता है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही

होकर आता है। उसी अनुभव को वह काव्य के रूप में समाज को भेंट कर देता है। अतः काव्य की जीवन से पृथक् कोई सत्ता नहीं हो सकती। वह जीवन से उत्पन्न होता है और जीवन के लिए ही उत्पन्न होता है। उसके द्वारा जीवन की विभिन्न समस्याओं का विवेचन और दशाओं का उद्घाटन किया जाता है।

सत्काव्य की दूसरी आवश्यकता यह है कि उसमें मानव-जीवन की नीति और मर्यादा-समन्वित झाँकी होनी चाहिये। नीति और मर्यादा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव उन्हें काव्य से भी अलग नहीं करना चाहिए। नीति और मर्यादा रहित काव्य उसी प्रकार त्याज्य है जिस प्रकार नीति और मर्यादा रहित जीवन। जो काव्य-रचयिता अपनी रचना में नीति और मर्यादा का ध्यान नहीं रखता वह किस प्रकार समाज हित-साधन कर सकता है ? इस प्रकार की काव्य-रचना से किस लोकोपकार की सम्भावना की जा सकती है ? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का कलुषित काव्य तो मानव-समाज को रसातल ले जायगा। विश्व में आज तक जिन कवियों की पूजा हो रही है उन सभी की कृतियों में पुनीत भावनाएँ भरी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में नीति और मर्यादा का लोकोपकारी भव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है। पर कतिपय कवियों ने भावों की पवित्रता का ध्यान नहीं रक्खा है। उन्होंने नायक-नायिका की प्रेम-लीला में ही अपनी काव्य-प्रतिभा की पराकाष्ठा कर दी है। यह काव्य का आदर्श नहीं है। उसका उद्देश्य कलुषित एवं वासनामय प्रेम की उद्भावना द्वारा मनुष्य को पतित करना नहीं। उसकी शोभा वासकसज्जा को टायम टेबिल के अनुसार सेज सजाने, अभिसारिका की नींद हराम करके आधी रात में घुमाने, प्रेषितपतिका के विरह ताप से सुलगते हुए शरीर के धुएँ से कौवे काले करने या अश्रु-प्रवाह से समुद्र खारे करने में नहीं। उसकी शोभा विलासी और अकर्मण्य नरपतियों के लिए तरह-तरह के मसाले तैयार करना नहीं। उसकी शोभा मन को विकृत करने वाली इस प्रकार की उक्ति में नहीं—

"बढ़ति निकसि कुचकोर रुचि, कढ़त गौर भुज-मूल।
मन लुटिगो लोटन चढ़त, चूँटस ऊँचे फूल॥"

उसकी शोभा आत्मा को उच्चता की ओर अग्रसर करने वाली इस प्रकार की रचना करने में है।

"रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥"

सत्काव्य की अन्य आवश्यकता भावुकता है। जिस काव्य में भावों की व्यंजना मार्मिक रूप में हुई होगी, जिस काव्य में भावों के सजीव चित्र उपस्थित किये होंगे, वह काव्य हृदय पर चोट किये विना नहीं रहेगा। मनुष्य को कार्य में रत या उससे विरत करने वाला हृदय ही होता है। अतः हृदय पर चोट देकर कवि श्रोता या पाठक को अपनी इच्छानुसार कार्य में संलग्न कर सकता है। भावुकता-प्रधान काव्य से सुधार, क्रान्ति और उत्थान की सिद्धि शीघ्र और सरलता से हो सकती है। भावुकता की सृष्टि के लिए काव्य में भाव और कल्पना का समुचित योग होना आवश्यक है। केवल भाव से काम नहीं चलेगा। निस्संदेह भाव काव्य का प्राण है, पर कल्पना भी एक आवश्यक वस्तु है। उसकी आधार-शिला पर भाव का भवन खड़ा किया जाता है। इस प्रकार की भावात्मक उक्तियाँ सत्काव्य का प्रतीक हैं—

"ऊधो इतनी कहियो जाइ।
अति कृसगात भई हैं तुम विनु परम दुखारी गाइ।
जल-समूह बरसति दोऊ अँखियनि हूँकति लीने नाउँ ॥
जहाँ-जहाँ गोदोहन करते सूँघति सोइ-सोइ ठाउँ।
परति पछार खाइ छिनहीं छिन अति आतुर ह्वै दीन ॥
मानहु सूर काढ़ि डारी है वारि मध्य तें मीन ॥"

वास्तविकता भी सत्काव्य की रचना के लिए आवश्यक है। काव्य को असलियत के क्षेत्र से वाहर नहीं निकालना चाहिए। असलियत से मतलब यह नहीं कि काव्य को एक प्रकार का इतिहास समझकर उसमें प्रत्येक बात की सत्यता का ध्यान रक्खा जाय। उसका अभिप्राय केवल यह है कि काव्य निराधार न हो। उसमें जो कुछ कहा गया हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कहा गया हो। स्वभाविकता से उसका लगाव

न छूटा हो, क्योंकि स्वाभाविकता का ही प्रभाव पड़ता है, अस्वाभाविकता का नहीं। गर्ज यह कि काव्य में असम्भव बातों को स्थान न दिया जाय, जिससे वह जीवन के क्षेत्र से पृथक् खड़ा हुआ तमाशा न बन जाय। जैसे, बिहारी की कुछ विरहोक्तियाँ हैं जो औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई हैं! देखिए—

"आड़े दै आले वसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस करै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति।"

सत्काव्य में सादगी अवश्य होनी चाहिए। सादगी से केवल यही नहीं समझना चाहिए कि काव्य की भाषा सरल और सुबोध हो वरन् उसके भाव तथा विचार भी सुस्पष्ट होने चाहिए। भाषा में क्लिष्टता और अटपटापन न हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और दुरूह न हों कि उनका मतलब समझ ही में न आवे अथवा कठिनाई से समझ में आवे। दुनियाँ में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, विश्व में आज तक जिन कवियों का आदर है, उनके काव्य सादगी के गुण से विभूषित देखे जाते हैं। वस्तुतः सादगी से मुख मोड़ कर कोई काव्य अपनी उद्देश्य-पूर्ति में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। यदि काव्य को समाज का कल्याण करना है, यदि काव्य को समाज की गन्दगियों का परिष्कार करना है, तो यह आवश्यक है—आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है, कि उसकी आवाज मनुष्य-मनुष्य तक पहुँचे। यह तभी सम्भव है जब काव्य सरल हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति पढ़कर या सुन कर उसको समझ सके। क्या निम्नांकित पंक्तियाँ सरलता से समझ में आ सकती हैं?

"कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में।"

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर जो काव्य रच जायगा वह अवश्य सत्काव्य होगा, वह अवश्य जन-समुदाय में आदर पावेगा। उसका निर्माता अपना ही नहीं वरन् लोक का कल्याण करने में कृत-कार्य होगा, इसमें सन्देह नहीं।

———

हिन्दी भाषा और साहित्य का भविष्य

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—मातृभाषा की उन्नति और राष्ट्रीयता का सम्बन्ध
(२) हिन्दी को दिन-प्रतिदिन आदर मिलना
(३) हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद की प्राप्ति
(४) हिन्दी का साहित्य
(५) हिन्दी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव
(६) हिन्दी की उन्नति एवं प्रचार के लिए काम करने वाली संस्थाएं
(७) उपसंहार—सारांश

मातृ-भाषा की उन्नति और राष्ट्रीयता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक कोई देश गुलामी के गर्त में पड़ा रहेगा तब तक वहाँ की भाषा कभी आदर नहीं पा सकती। आदर पाने की बात तो दूर रही, उसे दासी बनकर रहना पड़ेगा। जब राष्ट्रीय जाग्रति होगी तब उसकी ओर लोगों का ध्यान जायगा। हिन्दी की भी यही दशा रही। राष्ट्रीय भावना के संचार से अब पढ़े-लिखे लोग उसे अपनाने लगे हैं। एक वह समय था जब लोग हिन्दी के अस्तित्व को संदेह की दृष्टि से देखते थे, उर्दू ही जन-साधारण की भाषा समझी जाती थी। एक यह समय है जब लोग उसे मातृ-भाषा स्वीकार करने लगे हैं और उसकी उन्नति तथा प्रगति में हाथ बँटा रहे हैं। वे इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि जब तक हिन्दी का उत्थान न होगा, जब तक उसका मस्तिष्क ऊँचा न उठाया जायगा, जब तक विश्व-भाषाओं में उसे प्रतिष्ठित न किया जायगा, तब तक हम राष्ट्र का कुछ भी हित-साधन नहीं कर सकते।

हिन्दी को दिन-प्रतिदिन आदर मिलता जा रहा है। आजकल उसे उच्च शिक्षा में भी स्थान प्राप्त है। कॉलेजों में हिन्दी बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाओं का पाठ्य विषय है। यहाँ तक कि डॉक्टरेट (आचार्यत्व) की उपाधि के लिए भी उसे ग्रहण किया गया है। उसका स्तर निरन्तर ऊँचा होता जा रहा है। उसका आदर विदेशों में भी हो रहा है। विदेशों के विश्वविद्यालयों में उसे स्थान मिलता जा रहा है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, पूर्वी

पंजाब, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश आदि में वह शिक्षा का माध्यम बना दी गई है और उसे राज-भाषा स्वीकार कर लिया गया है। यहाँ हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियों को उसके माध्यम द्वारा विभिन्न विषयों का अध्ययन करने तथा परीक्षा देने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है और यह प्रयत्न हो रहा है कि बी० ए० और एम० ए० की शिक्षा के लिये भी छात्रों को यह सुविधा दे दी जाय। इधर कुछ दिनों से हमारे प्रान्त में उसे इण्टरमीडिएट तक शिक्षा का अनिवार्य विषय भी बना दिया गया है।

हिन्दी राष्ट्र-भाषा का पद भी प्राप्त कर चुकी है। भारतीय भाषाओं में उसका क्षेत्र सब से अधिक विस्तृत है। उसके बोलने वालों की संख्या बहुत है। वह सरल है जिससे सीखने वालों को कठिनाई नहीं होती। उसे प्राचीनता का भी गौरव प्राप्त है। उसे जन-साधारण की सेवा करते हुए आज लगभग ९०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। वह प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी है और खूब मँज गई हैं। उसका सीधा सम्बन्ध हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति से है और रहा है। उसकी लिपि सरल और वैज्ञानिक है। इन गुणों के होने के कारण वह सर्वथा राष्ट्र-भाषा बनने के उपयुक्त है। देश के राष्ट्रसेवियों ने उसे एक स्वर से राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है। भारतीय शासन-विधान में उसे राष्ट्रभाषा का पद प्रदान करके गौरवान्वित किया गया है।

यह तो हुई भाषा की बात, अब साहित्य को लीजिए। हमारा पुराना साहित्य पद्यमय रहा। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, केशव, बिहारी, भूषण आदि ने अपनी वाणी का संचार कविता में किया। गद्य का आविर्भाव हुए थोड़ा समय व्यतीत हुआ है। किन्तु थोड़े समय में ही उसने पर्याप्त उन्नति कर ली है। उसके विविध अंग पुष्टता प्राप्त करते जा रहे हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। उनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। स्वर्गीय भारतेन्दुजी, द्विवेदीजी, प्रसादजी, प्रेमचन्दजी और शुक्लजी ने गद्य-साहित्य को उच्चता की ओर उन्मुख किया है। उनकी कृतियाँ गद्य-साहित्य की विभूतियाँ हैं। यद्यपि आजकल गद्य का बोलबाला है और उसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है तथापि पद्य में भी अच्छी रचनाएं हो रही हैं। गुप्तजी,

उपाध्यायजी, प्रसाद जी, पन्तजी, महादेवीजी आदि कवि उसके भंडार को भर रहे हैं।

पर यह बुरी बात है कि हिन्दी-साहित्य विदेशी साँचे में ढलता जा रहा है। उसका रंग-रूप दिन-प्रतिदिन पाश्चात्य साहित्य के अनुसार परिवर्तित होता जा रहा है। 'कला कला ही के लिए', 'यथार्थवाद', 'प्रगतिवाद' आदि पश्चिमी साहित्य की प्रवृत्तियों से हमारा साहित्य भी प्रभावित हो रहा है। 'सन्यासी' सरीखे नाटक और 'कंकाल' सरीखे उपन्यास निकल रहे हैं, जिनमें समाज का कलुषित अंग अंकित हुआ है।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रचार और उन्नति के लिए आजकल तीन प्रधान संस्थाएं काम कर रही हैं—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी एकेडमी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा वह प्रकाश-स्तम्भ है जिसके आलोक में अनेक साहित्यिकों ने अपना मार्ग ढूंढ़ा है। उसने अनेक प्राचीन अप्राप्य ग्रन्थों की खोज की है और कर रही है। 'हिन्दी-शब्द सागर', 'हिन्दी-व्याकरण' इत्यादि कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाश में लाने का श्रेय भी उसी को है। हिन्दी-प्रचार के लिए भी उसके निरन्तर उद्योग हो रहे हैं। प्रयाग का हिन्दी साहित्य सम्मेलन इस कार्य में बहुत योग दे रहा है। उसके द्वारा संचालित परीक्षाओं में अनेक विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर हिन्दी का प्रसार कर रहे हैं। सरकार द्वारा स्थापित हिन्दुस्तानी एकेडमी की सेवाएं भी उल्लेखनीय हैं। यह संस्था हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के साहित्यों की समृद्धि में प्रयत्नशील है। यह उच्च विषयों पर विद्वानों द्वारा पुस्तकें तथा निबन्ध लिखाती है और व्याख्यानों की व्यवस्था करती है। उत्कृष्ट रचनाओं को पुरस्कृत भी किया जाता है। अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार हो रहा है। दक्षिण में 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा' अच्छा कार्य कर रही है। मद्रास जैसे सुदूर प्रान्त में भी हिन्दी का सन्देश पहुँच चुका है।

सारांश यह है कि हिन्दी-भाषा और साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है। ऐसी दशा में मातृ-भाषा हिन्दी की

उन्नति अवश्यम्भावी है। इसके लक्षण भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बिहार, पूर्वी पंजाब, हिमाचल-प्रदेश, विन्ध्य-प्रदेश, राजस्थान आदि में हिन्दी को राजभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो गया है, और वह वहाँ की शिक्षा-दीक्षा का माध्यम बन गई है। भारतीय विधान में वह राष्ट्र-भाषा घोषित कर दी गई है। हिन्दी का साहित्य भी निरन्तर अमूल्य रत्नों से भर रहा है। क्या कविता, क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या निबन्ध, उसके सभी अङ्ग खूब विकसित एवं पुष्ट हो रहे हैं। राजनीति, इतिहास, भूगोल, विज्ञान-कला, दर्शन-शास्त्र, नागरिक शास्त्र। आदि विविध विषयों पर हिन्दी में सुन्दर पुस्तकें लिखी जा रही हैं। वह दिन दूर नहीं है जब हमारी मातृ भाषा विश्व-भाषाओं के समक्ष उन्नत सिर करके खड़ी होगी और वे सब उसकी उत्कृष्टता का लोहा मानेंगी।

———

खड़ी बोली में हिन्दी-कविता

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—परिवर्तन के फलस्वरूप ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का सम्मान
(२) खड़ी बोली में कविता का प्रारम्भ
(३) खड़ी बोली में कविता का विकास
(४) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता का छन्द-विधान
(५) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता में प्रगीतात्मक (Lyric) शैली
(६) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता का पद-विन्यास
(७) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता में राष्ट्रीयता की गूंज
(८) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता की करुणात्मक प्रवृत्ति
(९) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता में छायावाद का रूप
(१०) वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता में छायावाद का रूप
(११) उपसंहार—खड़ी बोली-कविता का भविष्य

परिवर्तन-चक्र सदैव घूमता रहता है। एक वह समय था जब अवधी काव्य की भाषा थी, एक वह समय था जब ब्रजभाषा में कविता होती थी और एक

यह समय है जब काव्य की भाषा खड़ी बोली है। एक वह समय था जब ब्रज-भाषा का बोलबाला था—खड़ी बोली की कोई बात भी नहीं पूछता था, और एक यह समय है जब खड़ी बोली की चारों ओर तूती बोल रही है और बेचारी ब्रजभाषा सम्मानहीन होकर आठ-आठ आँसू रो रही है। परिवर्तन देव! आपको नमस्कार है। आपकी कृपा-दृष्टि जिस पर पड़ जाती है वह निहाल हो जाता है।

खड़ी बोली को गद्य-रचना का गौरव तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से बहुत पहले ही मिल चुका था, पर कविता में उसके प्रयोग की चर्चा भारतेन्दुजी के जीवन-काल में उठी जिसके प्रभाव से उन्होंने 'दशरथ-विलाप' नामक एक कविता खड़ी बोली में लिखी। भारतेन्दुजी के गोलोकवास के थोड़े ही समय पश्चात् भाषा-सम्बन्धी यह विचार जोर पकड़ने लगा। लोग कहने लगे कि हिन्दी-गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई है; फिर कविता की भाषा क्यों ब्रजभाषा रक्खी जाय? यह उचित नहीं कि गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में। परिणाम यह हुआ कि खड़ी बोली को काव्य-भाषा के आसन पर आसीन होने का गौरव मिला।

भारतेन्दु-काल में तीन प्रधान कवियों ने खड़ी बोली में रचनाएं कीं। उनके नाम पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' है। इस काल में कवियों के समक्ष खड़ी बोली की तीन प्रधान छन्द-प्रणालियाँ प्रचलित थीं—कवित्त-सवैया-प्रणाली, उर्दू-छन्द-प्रणाली और लावनी-प्रणाली। पाठकजी ने लावनी-प्रणाली, में 'एकांतवासी योग' की रचना खड़ी बोली-पद्य में की। इसके पश्चात् 'श्रांत पथिक' नाम से अँग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ की 'Traveller' शीर्षक रचना का पद्यानुवाद उन्होंने खड़ी बोली में किया। शंकरजी ने काव्य-रचना के लिये कवित्त-सवैया-प्रणाली को अपनाया। इस काल के सभी कवियों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध खड़ी बोली नहीं है। उसमें 'दिखाय', 'जाव', 'त्यों', 'पै', 'लौं', आदि प्रयोग बराबर देखने को मिलते हैं।

भाषा का परिष्कार जाकर द्विवेदी काल में हुआ। 'सरस्वती' के संपादन काल में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी कविताओं की भाषा दुरुस्त करते थे। लगातार संशोधन से धीरे-धीरे कवियों की भाषा स्वच्छ हो गई। द्विवेदीजी ने केवल

भाषा-परिष्कार का ही काम नहीं किया, वल्कि उन्होंने पद्य-रचना की एक नवीन प्रणाली का भी सूत्रपात किया। उन्होंने खड़ी बोली की कविता संस्कृत वृत्तों का व्यवहार आवश्यक ठहराया। इस प्रणाली में वे स्वयं कविता करने लगे और अन्य कवियों को भी कविता करने के लिए प्रोत्साहित करने लगे। द्विवेदी-काल में खड़ी बोली-कविता ने बहुत उन्नति की और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बा० मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि विख्यात कवि उत्पन्न हुए।

द्विवेदी-काल के समाप्त होते-होते खड़ी-वोली में बहुत कुछ कविता हो चुकी। इस काल में वह बहुत परिष्कृत हुई, इसमें संदेह नहीं, पर इतनी नहीं जितनी वर्त्तमान काल में आकर मँजी है। आजकल तो खड़ी वोली का एकाधिपत्य है। वर्त्तमान काल में काव्य-प्रवाह के लिए अगणित नवीन छन्दों की अवतारणा हुई है। प्रसादजी, पन्तजी, निरालाजी आदि कवियों ने अँग्रेजी तथा बंगाली छन्दों को अपनाया है। संस्कृत के ढंग के भिन्न-तुकांत छन्दों के अतिरिक्त आजकल मुक्त छन्दों में भी कविताएं होने लगी हैं। एक नमूना देखिए—

"देह के द्वार पर, मोह की माधुरी, कितने ही वार पी मूर्छित हुए हो प्रिय।
जगती मैं ही रही, गह वाँह-वाँह में भरकर सम्हाला तुम्हें॥

वर्तमान खड़ी वोली-कविता का झुकाव अंग्रेजी के अनुकरण पर प्रगीतात्मक (Lyric) शैली की ओर हो रहा है। प्रसादजी, पन्तजी, निरालाजी, महादेवीजी आदि कवि-कवयित्रियों की रचनाएं प्रायः इसी शैली पर हो रही हैं। यह शैली कोमल भावों की अभिव्यंजना के लिए ही उपयुक्त है, सब प्रकार के भाव इसमें व्यक्त नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त यह प्रबन्ध-काव्य के लिए भी सर्वथा अनुपयुक्त है। इस शैली का एक नमूना देखिये।

"उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है, वकपाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को, वन-वन जाती मलयज वयार;
केकीरव की नूपुर-ध्वनि सुन जगती-जगती की मूक प्यास;
रूपसि तेरा घन-केश पाश !"

वर्त्तमान खड़ी बोली-कविता का पद-विन्यास कोमल और सुन्दर है। पर उसमें लाक्षणिकता लाने के लिए अँग्रेजी भाषा का पल्ला पकड़ा जा रहा है। अँग्रेजी की लाक्षणिक पदावलियों का ज्यों का त्यों अनुवाद करके आजकल के कवि अपनी रचनाओं में रखने लगे हैं। जैसे, 'Innocent eyes' का अनुवाद 'अजान नयन' करके एक कवि ने अपनी रचना में रख लिया है। इस प्रकार के प्रयोग भाषा की स्वाभाविकता को नष्ट करके उसे विकृत कर देते हैं। हिन्दी में लाक्षणिक शक्ति अँग्रेजी से कम नहीं है। फिर क्या आवश्यकता है कि किसी विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण किया जाय ?

यह तो हुई कविता की बाह्यात्मा की बात। वर्त्तमान खड़ी बोली कविता की अन्तरात्मा भी पहले की सी नहीं रह गई है। इस स्वातन्त्र्य-युग में राष्ट्रीय कविताओं का जन्म और विकास हुआ है। रीतिकाल के कवियों ने कविता को विलासिता के भवनों में वन्दी कर दिया था। वर्त्तमान कालीन कवियों ने उसे मुक्त किया है। देश में राष्ट्रीय जाग्रति के लक्षण सर्वत्र दिखाई दे रहे हैं। फिर काल के प्रतिनिधि कवियों की वाणी में राष्ट्रीयता का संचार क्यों न हो ?

अङ्गरेजी और बङ्गला के प्रभाव से नवीन ढङ्ग को रहस्यात्मक भावनाएं भी हमारी कविता में प्रकट हो रही हैं। इस प्रकार की भावना-समन्वित कविता को छायावादी कविता कहा जाता है। इसमें परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की झलक रहती है। प्रसादजी, पन्तजी, निरालाजी और महादेवीजी इस प्रकार काव्य-रचना करने वाले कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। प्रसादजी की छायावादी कविता का एक नमूना देखिये—

"भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप॥
जल थल मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गई मैं पागल-प्रेम-विभोर॥"

आजकल खड़ी बोली की कविता में वेदना, करुणा, निराशा आदि की भावनाओं की प्रचुरता पाई जाती है। इसका कारण हमारी दीन-हीन परिस्थितियाँ हैं। क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक—सभी परिस्थितियाँ हमारे प्रतिकूल हैं जिससे हमारा जीवन नीरस हो गया है।

यहाँ तक कि कोई-कोई कवि तो जीवन के लिए दुःख का होना आवश्यक समझता है। देखिए :—

"बिना आँसू के जीवन भार।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य राष्ट्र के सुख-दुःख का प्रतिविम्ब प्राचीन काल में रहा है, अर्वाचीन-काल में है और भविष्य में रहेगा। सुख और दुःख का ही प्रतिविम्ब क्यों, वह राष्ट्र की सभी भावनाओं का प्रतिविम्ब रहा है और रहेगा। यदि उसे राष्ट्र का दर्पण कहें तो अनुचित न होगा। हिन्दी-काव्य इस कथन की सत्यता प्रदर्शित कर रहा है। आधुनिक काव्य में प्राचीन काव्य की भाँति समाज की सभी विशेषताएं झलक रही हैं। अछूतोद्धार, नारी-सम्मान, राष्ट्रीयता, देश-प्रेम आदि की भावनाओं की छाप वर्त्तमान रचनाओं पर पड़ रही है। देखिए एक कवि पुष्प-रूप में क्या अभिलाषा प्रकट कर रहा है—

"चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ॥
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूं, भाग्य पर इठलाऊँ॥
मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पथ शीश चढ़ाने, जिस पर जावें वीर अनेक।"

— — — —

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना - दो जातियों के सम्पर्क का पारस्परिक प्रभाव
(२) आधुनिक हिन्दी-गद्य पर पाश्चात्य प्रभाव—
(क) नाटक (ख) उपन्यास, (ग) कहानी (घ) निबन्ध और (ङ) समालोचना
(३) आधुनिक हिन्दी-पद्य पर पाश्चात्य प्रभाव—
(क) यथार्थवाद (ख) अभिव्यंजनावाद (ग) छायावाद (घ) प्रगीतात्मक शैली

(४) अँग्रेजी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव
(५) उपसंहार—सारांश

जब दो जातियों का सम्पर्क होता है तब उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगता है। एक जाति की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, खान-पान, भाषा, साहित्य आदि का दूसरी जाति की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, खान-पान, साहित्य आदि पर प्रभाव पड़ता है। इतिहास इस कथन का प्रमाण है। मुसलमानों और अंग्रेजों के संसर्ग से हिन्दुओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों से जहाँ हमने पायजामा पहनना तथा आदाब-अर्ज करना सीखा है और पर्दे की कुप्रथा को ग्रहण किया है वहाँ उनकी भाषा फारसी और उनके साहित्य से भी बहुत कुछ लिया है। अङ्गरेजों से जहाँ हमने कोट-पेंट पहनना और चाय पीना सीखा है वहाँ उनकी भाषा अङ्गरेजी और उसके साहित्य की बहुत-सी विशेषताओं को भी अपना लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुसलमान और अङ्गरेज भी हमसे प्रभावित हुए हैं और हो रहे हैं। इस प्रकार प्रभाव-चक्र सदैव घूमता रहता है। यहाँ हमें केवल अङ्गरेजों के सत्संग के फल-स्वरूप हिन्दी-साहित्य पर जो पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पड़ा है, उसी का विवेचन करना है।

हम लोग पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क में उस समय आये जब हमारे हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का सूत्रपात्र हो चुका था। अतः उक्त साहित्य की छाप आधुनिक हिन्दी साहित्य पर दृष्टिगत होती है। क्या गद्य, क्या पद्य, क्या भाव, क्या शैली, क्या भाषा, क्या साहित्य—सभी पश्चिमी साहित्य के रंग में रंगे हुए हैं।

पहले गद्य को लीजिए। अङ्गरेजों के प्रोत्साहन और सहायता से हिन्दी गद्य का विकास हुआ है। उसने अङ्गरेजी गद्य का अनुकरण करके उसी के अनुरूप शरीर-रचना की है। नाटक नामक गद्य के अंग पर अँग्रेजी साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हमारे यहाँ नाटकों में रस को प्रधानता दी गई थी। अंग्रेजी के नाटकों में अन्तर्प्रकृति के विश्लेषण द्वारा चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है। आजकल के हिन्दी नाटक अँग्रेजी के नाटकों की इस प्रवृत्ति

से प्रभावित देखे जाते हैं। उनमें रस के साथ-साथ मानवप्रकृति को भी समान स्थान दिया जाने लगा है। स्व० बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के नाटक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त हमारे प्राचीन नाटक सुखान्त होते थे, दुखान्त नहीं। सुख-दुख के घात-प्रतिघात अवश्य दिखाये जाते थे, परन्तु उनका अवसान आनन्द में हो जाया करता है। आजकल अँग्रेजी नाटकों के अनुकरण पर दुःखान्त नाटक भी हिन्दी में लिखे जाने लगे हैं। इसके अतिरिक्त अब हिन्दी नाटकों में नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना, गर्भाङ्क, विष्कुंभक, प्रवेशक आदि भी नहीं होते। यह भी पाश्चात्य प्रभाव है। अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण पर ही अब हमारे एकांकी नाटकों की रचना होने लगी है।

उपन्यास-क्षेत्र में भी पाश्चात्य साहित्य का बहुत प्रभाव देखा जाता है। संस्कृत के कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि पुराने कथात्मक गद्य-प्रबन्धों की भाँति के उपन्यासों का आजकल अभाव है। आजकल के उपन्यासों का ढाँचा बिल्कुल अंग्रेजी ढंग का है। इसके अतिरिक्त वे भारतवर्ष के वास्तविक और स्वाभाविक जीवन को भी चित्रित नहीं करते, वरन् अँग्रेजी-शिक्षा प्राप्त छोटे से समाज के ही जीवन का रूप हमें दिखाते हैं। यह अच्छा नहीं है। हिन्दी के उपन्यासों को अँग्रेजी से प्रभावित होकर इस प्रकार भारतीय संस्कृति का गला नहीं घोटना चाहिये। नाटक की भाँति वास्तविकतावाद की लहर उपन्यास को भी स्पर्श कर रही है।

कहानी नामक गद्यांश का विकास भी अंग्रेजी कहानियों के आधार पर हुआ है, संस्कृत के हितोपदेश अथवा राजतरंगिणी के ढंग पर नहीं। आजकल की कहानियों में प्रायः सादे ढंग की कुछ घटनाएँ पाठक के सम्मुख रक्खी जाती हैं, जैसा कि अंग्रेजी कहानियों में होता है। हिन्दी कहानियों की वेष-भूषा पूर्णतया पाश्चात्य कहानियों की सी है।

निबन्ध लिखना तो हमने बहुत कुछ अँग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से ही सीखा है। अंग्रेजी साहित्य निबन्धों से भरा-पूरा है। हिन्दी वालों ने उससे बहुत लाभ उठाया है। अब धीरे-धीरे हमारे यहाँ भी अच्छे-अच्छे निबन्ध लिखे जाने लगे हैं। स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल एक प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्ध अङ्गरेजी साहित्य के उत्तम निबन्धों से टक्कर लेने योग्य हैं।

समालोचना भी अङ्गरेजी साहित्य की देन है। पहले हमारे यहाँ समालोचना का प्रचार न था। संस्कृत के आचार्य किसी पुस्तक की समालोचना न देकर लक्षण-ग्रन्थों में श्रेष्ठ काव्य-रचनाओं को रस, अलंकार, ध्वनि आदि के उदाहरणों के रूप में और निकृष्ट रचनाओं को दोष के उदाहरणों में दिया करते थे। कभी-कभी किसी कवि या लेखक की प्रशंसा एकाध श्लोक द्वारा भी कर दी जाती थी। पुस्तकाकार समालोचना का चलन हमारे यहाँ न था। अङ्गरेज़ी में इस प्रकार की आलोचना का रिवाज है। अतः अङ्गरेजी साहित्य के सम्पर्क में आने पर उसकी विशेषता का हिन्दी पर खूब प्रभाव पड़ा। आजकल हिन्दी में भी पुस्तकाकार समालोचना बहुत देखी जाती है। यह अङ्गरेजी का ही प्रसाद है कि आज हिन्दी में कवि या लेखक की अन्तःप्रकृति की छान-बीन करने वाली समालोचनाओं का बाहुल्य पाया जाता है और तुलनात्मक समालोचना का भी सूत्रपात हो गया है।

यह तो हुई गद्य की बात। अब पद्य को लीजिये। पाश्चात्य कविता की प्रवृत्तियों से हमारी आधुनिक कविता पूर्णतः प्रभावित हुई है और हो रही है। पाश्चात्य साहित्य के वादों ने हमारी कविता को आक्रान्त कर लिया है। पहले यथार्थवाद को लीजिये। हमारा सभी साहित्य – क्या गद्य, क्या पद्य, आदर्शवाद की गोद में पला है। अब पाश्चात्य यथार्थवाद उसका रूप परिवर्तन करने में संलग्न है। पाश्चात्य साहित्यकों का कथन है कि जीवन और जगत का वास्तविक रूप साहित्य में अंकित होना चाहिए, काल्पनिक आदर्श रूप नहीं। यदि ऐसा न होगा तो साहित्य जीवन से पृथक् होकर तमाशे की चीज बन जायगा। पर हमारे प्रौढ़ कवि समाज के कल्याण का ध्यान रखते हुए आदर्शवाद के ही पृष्ठपोषक बने हुए हैं।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य कविता अभिव्यंजनावाद के प्रवाह में प्रवाहित हो रही है। अभिव्यंजनावाद में उक्ति के चमत्कार को ही कविता माना जाता है, उक्ति द्वारा व्यंजित भाव को नहीं। हमारे पूर्वजों ने काव्य का लक्ष्य मानव-जीवन के मार्मिक चित्रण द्वारा आत्मा की उच्चता रक्खा है। पश्चिम वालों की भाँति 'कला कला ही के लिये' हमारे यहाँ कभी नहीं मानी गई है।

आजकल के हमारे अधिकांश कवि कल्पना द्वारा चमत्कार-विधान को ही कविता समझ रहे हैं।

छायावाद भी पाश्चात्य साहित्य की देन है। हिन्दी वालों ने इसे बंगालियों और बंगालियों ने इसे अङ्गरेजी कविता से ग्रहण किया है। इसके अनुसार कविगण प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत के स्थान पर किसी अप्रस्तुत का वर्णन छाया रूप में करते हैं अथवा अपने और परोक्ष सत्ता के सम्बन्ध को प्रतीकात्मक उक्ति से व्यक्त करते हैं।

हमारी कविता की रचना-शैली पर भी पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगत हो रहा है। आजकल अङ्गरेजी में प्रायः गीतात्मक (Lyric) शैली में कविता हो रही है। हमारे यहाँ भी कविता के लिए यही शैली अपनाई जा रही है। पन्तजी, निरालाजी, महादेवीजी, आदि कवि इसी में कविता कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त अङ्गरेजी कविता की देखा-देखी हिन्दी-कविता भी छन्द-बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रही है।

हमारे साहित्य के अलावा हमारी भाषा पर भी अङ्गरेजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी के अगणित शब्द हिन्दी में पच गये हैं। शब्दों ही तक न रह कर हिन्दी के लेखक तथा कवि अंग्रेजी की लाक्षणिक पदावली का भी अक्षरशः अनुवाद करके अपनी भाषा में रखने लगे हैं। यह प्रवृत्ति बुरी है। ऐसा करने से हमारी भाषा की स्वाभाविकता नष्ट होने की आशंका है। वास्तव में किसी भी भाषा के मुहावरे या लाक्षणिक पद किसी अन्य भाषा में अनुवादित नहीं हो सकते। 'Dreamy splendour' का अनुवाद 'स्वप्निल आभा', 'Golden dream' का अनुवाद 'स्वर्ण स्वप्न' और 'Innocent eyes' का अनुवाद 'अजान-नयन' करके उन्हें हिन्दी में खपाने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। हमारी भाषा इन पदों को कभी नहीं पचा सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी ने ही नहीं, पुर्तगीज, फ्रेंच आदि भाषाओं ने भी हिन्दी को प्रभावित किया है, पर यह प्रभाव शब्दों की संख्या परिवर्द्धित करने तक ही सीमित रहा है। पाश्चात्य प्रभाव के सम्बन्ध में यह

ध्यान रखना वाञ्छनीय है कि हम सदैव नीर-क्षीर-विवेक से काम लें और विदेशी भाषाओं की बुराइयों को दूर रखने के लिए सतर्क और सावधान रहें। तभी हमारी भाषा और हमारे साहित्य का कल्याण हो सकता है। तभी हमारा साहित्य संसार में उच्च स्थान का अधिकारी हो सकता है।

———

साहित्य समाज का दर्पण है

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—साहित्य का रूप
(२) साहित्य की उपयोगिता
(३) साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध
(४) साहित्य के उत्पादक मनुष्य पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव
(५) समाज का साहित्य पर प्रभाव
(६) हिन्दी साहित्य के उदाहरण
(७) उपसहार - समाज के कल्याण के लिए साहित्य-रक्षा की आवश्यकता

'Literature is the brain of humanity' साहित्य मानव समाज का मस्तिष्क है। जिस प्रकार मानव-मस्तिष्क में उसके पूर्व संचित विचारों, अनुभवों और भावनाओं का समष्टि रूप विद्यमान रहता है, उसी प्रकार साहित्य में मानव-जाति के समस्त अनुभवों और विचारों का भंडार सुरक्षित है। दूसरे शब्दों में साहित्य हमारे पूर्वज महानुभावों के विचारों तथा अनुभवों का लिखित एकत्रीकरण है। आज हमें गोस्वामीजी के विचार, अनुभूतियाँ और आकांक्षाएं विदित हैं। आज आदि कवि वाल्मीकिजी की पुनीत वाणी हमारे मन को प्रफुल्लित करती है। आज कालिदास और भवभूति नाटक हमें उनके विचारों से परिचित करते हैं। आज न्यूटन, प्लेटो, अरस्तू आदि महानुभावों की कृतियाँ हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि कर रही हैं। यह सब किसका प्रसाद है ? साहित्य का। निस्सन्देह साहित्य ही प्राचीन आचार-विचारों का ज्ञान कराता हुआ हमारे मानसिक विकास में हाथ बँटा रहा है। वही हमें समस्त मानव-समाज के सूत्र में पिरो रहा है; क्षण-भर के लिए भी हमको उससे पृथक् नहीं होने देता।

यदि साहित्य हमारी सहायता न करे, हमें पूर्वजों के संसर्ग से वंचित रक्खे, तो हमें बहुत हानि होने की सम्भावना है। हम समाज के अर्जित एवं संचित ज्ञान-भण्डार से लाभान्वित न हो सकेंगे। हमारा मानसिक विकास रुक जायगा। जैसे शरीर की उन्नति जल, वायु, भोजन, प्रकाशादि पर निर्भर है उसी प्रकार मस्तिष्क की उन्नति साहित्य पर अवलम्बित है। यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता। उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है। मस्तिष्क के अविकसित रहने से समाज की उन्नति में बाधा पहुँचती है, सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान का प्रसार रुक जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव में समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को भारी हानि पहुँचती है।

साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य के द्वारा समाज को अनुपम शक्ति मिलती है और समाज द्वारा साहित्य का भंडार सदैव रत्नों और मणियों से जगमगाता रहता है और उसका विस्तार नित्य बढ़ता रहता है। अच्छा या बुरा जैसा समाज होता है वैसा ही अच्छा या बुरा साहित्य निर्मित होता है, और जैसा अच्छा या बुरा साहित्य होता है वैसा ही अच्छा या बुरा रूप समाज धारण कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज साहित्य को और साहित्य समाज को प्रभावित करता रहता है। कहा भी है 'The poet and the age react upon each other—अर्थात् कवि और समय एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। निस्सन्देह साहित्य समाज का दर्पण है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि साहित्य द्वारा किसी समाज के अच्छे या बुरे, उन्नत या अवनत, विकसित या अविकसित होने का हमें प्रमाण मिलता है।

मनुष्य एक पेड़ सदृश है। जिस प्रकार पौधे पर मिट्टी, जल, वायु और प्रकाश का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य जिस परिस्थिति, जिस दशा में होता है उसका प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। देश-काल के प्रभाव से कौन बच सकता है? प्रायः देखा जाता है कि एक स्थान के पेड़ जिस प्रकार के फल देते हैं। दूसरे स्थान के उसी प्रकार के पेड़ वैसे फल नहीं देते। जैसा अमरूद इलाहाबाद का होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता।

काश्मीर का सा सेव दूसरे स्थान पर नहीं मिल सकता। चमन का अंगूर और नागपुर का संतरा प्रसिद्ध है। कहने का तात्पर्य यही है कि वातावरण के अनुसार जीवन का विकास होता है। समाज का वातावरण मनुष्य का वातावरण है। समाज की छाप से कौन बच सकता है? गोस्वामी तुलसीदास सरीखे अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा भी समाज के प्रभाव से न बच सके। उनकी कृतियों पर तत्कालीन समाज की गहरी छाप है। उनके विचार—क्या सामाजिक क्या राजनीतिक, क्या धार्मिक—ईसा की सोलहवीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। जिस प्रकार बालक माता के स्तन्य से पुष्ट होकर बड़ा होता है उसी प्रकार व्यक्ति समाज की भावनाओं, विचारों, रूढ़ियों तथा परम्परा को बीज रूप में प्राप्त करके फूलता-फलता है।

जब मनुष्य कुछ साहित्य-सृजन करता है तब वे ही भावनाएँ, वे ही विचार, वे ही रूढ़ियाँ जिन्होंने उसके सारे जीवन को ओत-प्रोत कर रक्खा है उसकी लेखनी के मार्ग से निकल चलती हैं। इस प्रकार साहित्य पर समाज अपना प्रतिबिम्ब फेंकता रहता है और उसे अपने अनुरूप बनाता रहता है। यह स्वाभाविक नियम सभी देशों, सभी कालों, सभी जातियों में निरन्तर अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता रहता है। भारतवर्ष का ही उदाहरण ले लीजिये। हिन्दी साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तब पता चलता है कि कालानुसार जैसे-जैसे समाज बदलता गया है वैसे-वैसे साहित्य भी अपना स्वरूप परिवर्तित करता गया है।

वीरगाथा-काल का साहित्य युद्ध-वर्णनों से भरा पड़ा है। उसमें राजाओं के शौर्य पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था। भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। उनको रोकने के लिये राजपूत अवरोधात्मक युद्ध करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य-विस्तार और पर-कन्या अपहरण के लिए भी वे आपस में लड़ लिया करते थे। उस समय देश में चारों ओर तलवारों की खपाखप सुनाई पड़ती थी। अतः साहित्य में वीर-रस-प्रधान रचनाएँ हुईं। तदुपरान्त जब मुसलमानों ने शनैः शनैः राजपूतों को पराजित करके

देश में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तब हिन्दू-समाज की दशा बदली। मुसलमानों के अत्याचारों के कारण हिन्दुओं का जीवन कंटकाकीर्ण हो गया। उन्हें विधर्मियों से पद-पद पर अपमानित होना पड़ता था। उनका जीवन नीरस एवं हताश हो गया। उन्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार सूझने लगा, कहीं भी आशा अथवा सहानुभूति का शुभ्रलोक नहीं। ऐसी दशा में हिन्दू-जाति राम-कृष्ण की भक्ति की ओर उन्मुख हुई। यह आशा की जाने लगी कि जिस प्रकार राम ने रावण का वध करके और कृष्ण ने कंस का मद चूर्ण करके समाज का उद्धार किया था उसी प्रकार मुसलमानों से भी उनकी रक्षा राम-कृष्ण ही करेंगे। फलतः समाज में भक्ति का प्रचार होने से साहित्य-क्षेत्र में भी भक्ति-सुरसरि तरंगित होने लगी। इसके अनन्तर जब हिन्दुओं के दिन फिरे और मुसलमान उनके साथ सद्व्यवहार करने लगे तब वह विलासिता की ओर अग्रसर हुई। 'यथा राजा तथा प्रजा'—के अनुसार राजा का प्रजा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। मुगल-सम्राटों ने विलासिता की हद कर दी थी। जहाँगीर और शाहजहाँ कादम्ब-कामिनी के शिकार बने हुए थे। हिन्दू राजा भी बड़े विलासी एवं अकर्मण्य थे। परिणाम यह हुआ कि जनता विलास-सागर में निमग्न हो गई और कवि-वृन्द कलुषित प्रेम की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को भरने लगे। शृङ्गार-रस गन्दी नालियों में प्रवाहित होने लगा। राधा और कृष्ण की ओट लेकर कविगण नायक-नायिकाओं के वासनामय प्रेम की उद्भावना करने लगे।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य भी अर्वाचीन समाज का दर्पण बना हुआ है। आजकल भारतीय समाज में राष्ट्रीयता का संचार हो रहा है, कुरीतियों के प्रति घृणा उत्पन्न हो रही है और पराधीनता-जन्य खिन्नता फैल रही है। इन प्रवत्तियों की झलक वर्त्तमान साहित्य में स्पष्टतया दृष्टिगत हो रही है। उसमें राष्ट्रीय भावनाओं, समाज की रूढ़ियों के खंडन और स्वाधीनता के सिद्धान्तों का बाहुल्य है।

अतः प्रकट है कि प्राचीन काल से साहित्य सदैव समाज का स्वरूप अंकित करता आया है, समाज की प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना करता आया है और भविष्य में भी वह ऐसा करता रहेगा। समाज के कल्याण के लिये यह आवश्यक

है कि हम अपने परम्परागत साहित्य की रक्षा करें और उसकी श्री-वृद्धि करते जायें।

हिन्दी का नया और पुराना साहित्य

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—हिन्दी-साहित्य का विकास
(२) प्राचीन साहित्य और अर्वाचीन साहित्य में भेद—
  (क) नवीन साहित्य गद्य-प्रधान है, प्राचीन साहित्य नहीं
  (ख) भाषा का अन्तर
  (ग) नवीन साहित्य में राष्ट्रीयता की गूँज है, प्राचीन साहित्य में नहीं
  (घ) नवीन साहित्य यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, प्राचीन साहित्य आदर्शवाद की ओर
(३) नवीन साहित्य की अपेक्षा प्राचीन साहित्य की श्रेष्ठता
(४) उपसंहार—निष्कर्ष

हिन्दी-साहित्य का जन्म विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हो गया था। उस समय यह एक क्षीणकाय सरिता के समान था। आज उस साहित्य-सरिता ने पृथक् रूप धारण कर लिया है। आज उसकी धारा कई क्षेत्रों में प्रवाहित हो रही है। हिन्दी-साहित्य का वह भाग जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक के साहित्य उत्पादकों द्वारा उत्पादित हुआ है नये साहित्य के नाम से सम्बोधित होता है और उससे पूर्व का भाग पुराने साहित्य के नाम से। इन दोनों भागों में पर्याप्त भेद है। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं, दोनों के अपने-अपने गुण हैं।

प्राचीन साहित्य काव्यमय है, गद्य उसमें नगण्य है। यों तो गोरखनाथ के कतिपय गद्य-ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' गंग की 'चंद छंद बरनन की महिमा' और जटमल की 'गोरा बादल की कथा' नामक गद्य-पुस्तकें भी मिली हैं, पर इनका कोई महत्व नहीं। न तो इनमें गद्य का परिष्कृत रूप है और न ये गद्य

का विकास ही दिखाती हैं। ये तो समय-समय पर लिखे हुए गद्य का अव्यवस्थित रूप ही उपस्थित करती हैं। अर्वाचीन साहित्य में गद्य महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये हुये है और पद्य का स्थान अपहरण करता जा रहा है। चारों ओर उसकी तूती बोल रही है, चारों ओर उसका बोलवाला है। आजकल उसके नाटक, उपन्यास, कहानी, निवन्ध, समालोचना आदि अंग-प्रत्यङ्ग खूब सुसज्जित हो रहे हैं। गद्य की खूब उन्नति हो रही है।

पुराने और नये साहित्य में भाषा-सम्बन्धी भेद भी विद्यमान है। प्राचीन साहित्य की रचना व्रजभाषा और अवधी में हुई है। सूर, तुलसी, जायसी, विहारी, मीरा आदि कवियों ने इन्हीं भाषाओं में अपनी वाणी का संचार किया है। नवीन-साहित्य की भाषा खड़ी वोली है। क्या गद्य, क्या पद्य, साहित्य के दोनों अंग इसी भाषा में प्रस्फुटित हो रहे हैं। एकाध रचना व्रजभाषा में भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाती है, किन्तु ऐसी रचनाओं की संख्या नहीं के बरावर है।

हिन्दी के नवीन साहित्य में राष्ट्रीयता की झलक है, राष्ट्रीयता की गूंज है। आजकल देश में चारों ओर देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की लहरें उठ रही हैं। इस विशेषता का साहित्य पर प्रभाव पड़ रहा है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कविता, क्या कहानी, साहित्य का प्रत्येक अंग राष्ट्रीयता के रंग में रंगा हुआ है प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटक स्वदेश-प्रेम के जीते-जागते स्वरूप हैं। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों तथा कहानियों में भी स्वदेश-प्रेम और सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणाम बड़े मार्मिक ढंग से प्रदर्शित हुए हैं। वावू मैथिलीशरण गुप्त, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, वावू जयशंकर 'प्रसाद', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, पं० बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन' आदि कवियों की रचनाएं राष्ट्रीयता से लवालव भरी हैं। एक उदाहरण देखिये—

"मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥"

(माखनलाल चतुर्वेदी)

प्राचीन साहित्य में कहीं भी राष्ट्रीयता के दर्शन नहीं होते। हाँ, भूषण की कविता में अवश्य उसका स्वरूप देखा जाता है। देश पर निछावर होने वाले छत्रपति शिवाजी की यशोगाथा में भी वह प्रस्फुटित हुई है। वीर-गाथा काल का साहित्य वीर-रस प्रधान है। उस समय राजपूत नृपति या तो बाह्य आक्रमणकारियों से लोहा लेते थे या शौर्य प्रदर्शनार्थ परस्पर लड़ते थे। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित करके उस कन्या को हर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम समझा जाता था। भक्तिकाल का साहित्य भक्ति-रस प्रधान है। उस समय कवियों की वाणी का संचार राम-कृष्ण की भक्ति-गाथा में हुआ अथवा निर्गुणोपासना का रूप अंकित करने में। रीतिकाल में वासनामय प्रेम को लेकर कविगण साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

हमारा नया साहित्य यथार्थवाद की ओर झुकता जा रहा है। यह पाश्चात्य संसर्ग का प्रभाव है। यथार्थवादियों का कथन है कि जीवन और जगत का वास्तविक रूप साहित्य मे अङ्कित होना चाहिये। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कृति में जीवन का वही सामान्य रूप चित्रित करे जो संसार में देखा जाता है, एक काल्पनिक और जगत से परे रूप खड़ा करके मानव समाज को जीवन की यथार्थता से पृथक् न करे। यह देखा जाता है कि सांसारिक जीवन में निराशा, कष्ट एवं पाप का साम्राज्य रहता है। फिर क्यों साहित्यकार उसमें आशा, सुख तथा पवित्रता का संचार करे? फलतः आजकल दुःखान्त नाटकों की सृष्टि हुई है जिनमें दुर्गुणों की सद्गुणों पर विजय दिखाई गई है।

हमारा प्राचीन साहित्य आदर्शवादी रहा है। उसमें सदैव सद्गुणों की दुर्गुणों पर विजय दिखाई गई है, जिससे समाज उच्चता की ओर अग्रसर हो, पतन की ओर नहीं। आचार्यों ने काव्य के नेता में उदात्त वृत्तियों का होना आवश्यक ठहराया है। पुराने साहित्य को छान डालिये। कहीं भी नायक में उदात्त वृत्तियों का अभाव नहीं मिलेगा। अन्त में प्रतिपक्षियों को पराजित करके नायक की विजय ही हमारे सभी प्राचीन काव्यों में प्रतिपादित हुई है। गोस्वामी

ठीक चित्र उपस्थित कर सकता है। ऐसा न हो कि हमारे अठारहवीं ाब्दी के साहित्य में मोटर, बिजली का पंखा, टेलीफोन आदि का उल्लेख हमारा शृङ्गार-साहित्य सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की अकर्मण्यता का वा और सजीव परिचय कराता है। हमारा वर्त्तमान साहित्य भारतवर्ष की ता, बेकारी, फूट और सामाजिक कुरीतियाँ-जन्य अशान्ति का दिग्दर्शन ा रहा है। उसमें राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आन्दोलनों की छाया देखी जाती है। उसमें वेदना, करुणा, निराशा आदि की व्यंजना का प्राचुर्य है। यदि कोई कहता है—

"सुरसरि औ अंत्यज दुहुँ अच्युत-पद-संभूत,
भयौ एक क्यों छूत औ दूजौ रह्यो अछूत ?"

तो कोई कहता है—

"अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
अंचल में है दूध और आँखों में पानी।"

लोकप्रिय साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि उस पर सभ्यता एवं कृति की छाप हो। जिस जाति से सम्बन्धित वह साहित्य हो उसी जाति की भ्यता और संस्कृति के दर्शन उसमें हों, उसी की रहन-सहन, उसी की वेश-भूषा, उसी की नीति, उसी का धर्म, उसी का आचार, उसमें भरा हो। इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रहे कि साहित्यकार जाति-विशेष के सामान्य जीवन के आधार पर सभ्यता का निरूपण करे, उसके किसी एक अङ्ग के जीवन के आधार पर नहीं। जैसे भारतीय साहित्यकार यदि अपने साहित्य में सह-शिक्षा (Co-education) को स्थान दे तो यह भारतीय सभ्यता के विरुद्ध ेगा, क्योंकि यद्यपि भारतीय समाज के शिक्षित वर्ग के एक भाग में यह प्रथा चलित है, तथापि पूर्ण भारतीय समाज में प्रचलित नहीं। अतः इस प्रथा भारतीय सभ्यता के विरुद्ध समझा जायगा। इसी प्रकार मिस्टर, मिसेज, स, प्रॉफेसर, होस्टल, क्लब, ड्राइङ्ग रूम, टैनिस, मैच, सिनेमा, मोटर पर ख़ोरी इत्यादि से सम्बन्धित जीवन-चित्र सामान्य भारतीय जीवन से अलग कर बिल्कुल यूरोपीय रहन-सहन के 'साँचे में ढले हुए हैं। यह ठीक है कि

अँग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से एक बहुत छोटे से वर्ग के लोगों के जीवन का यह भी पक्ष हो गया है, पर यह सामान्य पक्ष नहीं है। इसलिए भारतीय साहित्य में उक्त जीवन-चित्रों का समावेश देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन की दृष्टि से ओझल करके भारतीय सभ्यता पर कुठाराघात करेगा।

साहित्य के भाव और कल्पना दो मूल तत्व हैं। इनमें प्रधानता भाव की है। यदि हम चाहें तो भाव को साहित्य का प्राण कह सकते हैं। पर कल्पना भी आवश्यक है। लोकप्रिय साहित्य में भाव और कल्पना दोनों का समुचित योग होना चाहिए। आजकल विलायती साहित्य में भाव को हटाकर कल्पना को प्रधान स्थान दिया जा रहा है। वहाँ उत्कृष्ट साहित्य वही समझा जाता है जिसमें कवि अपनी कल्पना द्वारा वस्तुओं का काल्पनिक चित्र खींच दे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का साहित्य अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता और उसे लोकप्रियता का पद कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। शेक्स-पियर का साहित्य जो आज तक जन-समाज में आदर पा रहा है, इसका कारण यही है कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का भावात्मक चित्र अंकित है। वह हृदय पर चोट करता है। उसमें कल्पना का भी उपयोग हुआ है, परन्तु वह भाव की सहायिका होकर आई है—अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रदर्शित करती हुई नहीं।

साहित्य को लोकप्रिय होने के लिए वास्तविकता की रक्षा भी करनी चाहिए। उसे असलियत के क्षेत्र से बाहर नहीं निकलना चाहिए। असलियत से यह मतलब नहीं कि साहित्य का एक प्रकार का इतिहास बन जाय और उसमें प्रत्येक बात की सत्यता का ध्यान रक्खा जाय। उसका अभिप्राय केवल यह है कि साहित्य निराधार न हो। उसमें जो कुछ कहा गया हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कहा गया हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो, क्योंकि स्वाभाविकता का ही प्रभाव पड़ता है—अस्वाभाविकता का नहीं। तात्पर्य यह कि साहित्य में असम्भव बातों को स्थान न दिया जाय जिससे वह जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा हुआ तमाशा न हो जाय।

सादगी साहित्य को लोकप्रियता प्रदान करने के लिए नितान्त आवश्यक है। सादगी से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि साहित्य की भाषा सरल और

सुबोध हो, वरन् उसके भाव एवं विचार भी सुस्पष्ट होने चाहियें। भाषा में क्लिष्टता और अटपटापन न हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और दुरूह न हों, कि उनका मतलब समझ ही में न आवे अथवा कठिनाई से समझ में आवे। दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, दुनिया में आज तक जिन कवियों का आदर है, उनकी साहित्य-रचना सादगी के गुण से विभूषित देखी जाती है। वस्तुतः सादगी से मुख मोड़कर कोई साहित्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता। यदि साहित्य को समाज का कल्याण करना है, यदि साहित्य को समाज की गंदगी का परिष्कार करना है, तो यह आवश्यक है कि उसकी आवाज मनुष्य-मनुष्य तक पहुँचे। यह तभी सम्भव है जब साहित्य सरल हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति उसको पढ़ सके और समझ सके।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखकर जो साहित्य तैयार होगा वह अवश्य लोकप्रिय होगा, वह अवश्य जन-समाज में आदर पायगा। उसका निर्माता अपना ही नहीं वरन् लोक का कल्याण करने में समर्थ होगा इसमें संदेह नहीं।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' और साहित्य

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का जन्म, हमारे साहित्य-क्षेत्र में प्रचार।
(२) साहित्य और सत्य।
(३) साहित्य और शिव—
 (क) कलावाद का विरोध,
 (ख) यथार्थवाद का विरोध।
(४) साहित्य और सुन्दरता।
(५) उपसंहार—सारांश।

कुछ दिनों से हमारे यहाँ साहित्यिक रचनाओं का मूल्य आँकने के लिए एक कसौटी निर्धारित हुई है जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पदावली का इतना अधिक प्रचार हुआ है कि साहित्यिक इसी का राग अलाप रहे हैं और साहित्य-क्षेत्र में इसकी बड़ी धूम है। यहाँ तक कि यह आदर्श-वाक्य मानी जाती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ लोगों की धारणा है कि इसका मूल स्रोत उपनिषदों में है।

पर यह भ्रमपूर्ण है। वास्तव में इसका जन्म पश्चिम में हुआ। वहाँ से बंगाल ने इसे ग्रहण किया। अब इसने हमारे यहाँ भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है। यह 'The True, The Good, The Beautiful.' का अनुवाद है और ब्रह्म-समाज के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बङ्गला-साहित्य में व्यवहृत हुई है। किन्तु अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि मौलिक-सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह पदावली भारतीय साहित्यादर्श के इतने अनुकूल है कि तनिक भी विदेशी नहीं प्रतीत होती।

साहित्य और सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर विज्ञान या इतिहास का सत्य साहित्य में नहीं मिल सकता। जहाँ वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक सत्य के शरीर की रक्षा करता है, वहाँ साहित्यकार उसकी आत्मा की रक्षा करता है। साहित्य में सत्य की कसौटी यह नहीं हो सकती कि उसमें वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखाया जाय अथवा घटनाओं का यथातथ्य वर्णन किया जाय। कल्पना साहित्य का महत्वपूर्ण तत्व है। उसका प्रयोग करके साहित्यकार नितांत असम्भव बातों की योजना करता हुआ किसी वस्तु अथवा घटना का प्रतिपादन कर सकता है। साहित्य-संसार में उड़ते हुए मनुष्य चलते हुए पर्वत, हँसते हुए पुरुष और रोती हुई नदी का अस्तित्व है। वहाँ सिंह तथा बकरे का एक घाट पर पानी पीना, बाघ तथा मृग का आपस में खेलना और सर्प तथा मयूर का साथ रहना सम्भव है। वहाँ ऐसी कपोल कल्पित घटनाएँ सम्भव हैं जिनकी पुष्टि इतिहास नहीं करता। साहित्य-निर्माता कला की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसा करने में स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का अंकुश लगाना साहित्य-निर्माण के लिए अहितकर है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह हमारे समक्ष वस्तु या घटना का विकृत रूप प्रस्तुत करे।

उसकी कल्पना-जन्य सृष्टि भले ही हवा में हो, किन्तु वह वास्तविकता की नींव पर स्थित हो। साहित्य का सत्य भावानुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति है, परिस्थिति-विशेष में साहित्य-निर्माता पर जो प्रभाव पड़े, जो भाव उसके हृदय में जाग्रत हो, उसे निष्कपटता के साथ ज्यों का त्यों प्रत्यक्ष करना है। इसी सत्य की रक्षा निमित्त साहित्यकार कल्पना की सहायता लेता है।

'शकुन्तला' नाटक में अँगूठी और शापवाली घटना कवि-कल्पना-प्रसूत है और उसकी अवतारणा दुष्यन्त के प्रेमी हृदय के परिचयार्थ की गई है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में स्कन्दगुप्त द्वारा अपने विरोधी भाई पुरगुप्त के लिए साम्राज्य-त्याग और स्वयं आजन्म कौमार-जीवन की प्रतिज्ञा करके वानप्रस्थ-ग्रहण कल्पनात्मक घटना है और उस की उद्भावना नाटक के नायक स्कंदगुप्त के हृदय की उदारता, महानता, उत्सर्ग एवं विराग स्पष्ट करने के लिए की गई है। 'रामचरितमानस' में लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर जब रामचन्द्रजी विलाप करते हैं, तब उन्हें सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।"

पर क्या लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के 'सहोदर भ्राता' थे ? नहीं। इतिहास से इसकी पुष्टि नहीं होती। फिर कवि ने रामचन्द्रजी के मुख से यह झूठ बात क्यों कहलवाई ? स्नेहार्द्र तथा शोकाकुल राम के हृदय का वास्तविक रूप उपस्थित करने के लिए, यह प्रदर्शित करने के लिए कि अत्यन्त स्नेही की मृत्यु के शोक में मनुष्य की दशा विक्षिप्त की सी हो जाती है—यही साहित्य का सत्य है।

अब साहित्य और शिव का सम्बन्ध देखिए ! साहित्य सदैव शिव है, क्योंकि उसमें नीति और मर्यादा के भव्य सिद्धान्तों का उद्घाटन होता है। हाँ, इधर कुछ समय से साहित्य-क्षेत्र में कलावाद का बोलबाला है। उसकी झोंक में कुछ साहित्यिक शिव की उपेक्षा करने लगे हैं और कहने लगे हैं कि साहित्य-सृजन का जीवन अथवा सदाचार से कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यकार स्वयं एक जीवधारी है, उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ साहित्य-रूप में समाज को भेंट कर देता है। फिर यह कैसे सम्भव है कि साहित्य जीवन से पृथक रह सके ? साहित्यकार जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या भी करता है। जहाँ जीवन की विवेचना होगी वहाँ किसी न किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही। नीति और सदाचार को जीवन से अलग नहीं

किया जा सकता। अतः नीति और सदाचार को साहित्य से भी अलग नहीं किया जा सकता।

साहित्यिकों का दूसरा वर्ग साहित्य और जीवन के सम्बन्ध में तो विश्वास करता है; परन्तु वह यथार्थवाद का भक्त है। उसका कथन है कि साहित्य में जीवन का वास्तविक स्वरूप अंकित होना चाहिए, साहित्य-निर्माता अपनी कृति में जीवन का वही रूप चित्रित करे जो उसे संसार में देखने को मिलता है, एक काल्पनिक रूप खड़ा करके मानव जाति को जीवन की वास्तविकताओं से विमुख न करे। यह देखा जाता है कि सांसारिक जीवन में निराशा, कष्ट एवं पाप का साम्राज्य रहता है। फिर साहित्य-निर्माता क्यों उसमें आशा, सुख तथा पवित्रता का संचार करे? जीवन के दो पक्ष हैं—उत्कृष्ट और निकृष्ट। जीवन में आशा तथा निराशा, सुख तथा दुःख, पाप तथा पुण्य दोनों का स्थान है। अतः जीवन का पूर्ण रूप देखने के लिए साहित्य में इन दोनों को ही स्थान मिलना चाहिए; किन्तु लोक-कल्याण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि साहित्य-निर्माता पहले की दूसरे पर विजय दिखाए। यह ठीक है कि संसार में प्रायः ऐसा देखने को नहीं मिलता। प्रायः पापी को जीवन में सफलता मिलती है और धर्मात्मा को असफलता, दुष्ट मौज उड़ाते हैं और सज्जनों पर आपत्तियों के पहाड़ टूटते हैं, धूर्त समृद्धि के शिखिर पर चढ़ जाते हैं और सदाचारी योग्य होने पर भी अवनति के अंधकूप में पड़े रहते हैं। किन्तु यह शाश्वत और पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्य में तो शाश्वत और पूर्ण सत्य की ही रक्षा होनी चाहिए। उसमें तो मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप चित्रित किया जाय, सदाचार की सुरसरि प्रवाहित की जाय, जिससे उसका और शिव का नित्य सम्बन्ध बना रहे।

अब साहित्य और सुन्दरता के सम्बन्ध की ओर आइए! क्या आन्तरिक, क्या बाह्य, दोनों प्रकार की सुन्दरता साहित्य में मिलती है। मानव-हृदय की पवित्र से पवित्र वृत्ति, आचरण का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप, मर्यादा का भव्य से भव्य चित्र अंकित करके साहित्यकार आन्तरिक सुन्दरता की सृष्टि करता है। बाह्य सुन्दरता तो उसकी आराध्य देवी है। साहित्यकार सौन्दर्योपासक प्राणी होता है। 'A thing of beauty is a joy for ever.' के अनुसार

सुन्दर वस्तु उसे सर्वदा आनन्द प्रदान करती है। क्या जीवन में, क्या प्रकृति में, जहाँ कहीं वह सौन्दर्य देखता है उस ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता और उसका हृदय वाह्य-प्रकाशन के लिए व्याकुल हो जाता है! फलतः वह अपनी रचना में तत्सम्बन्धी चित्र उपस्थित करता है। दो-एक चित्र देखिए—

"अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल-जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल।
है मूँद चुका अपने मृदु दल,
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर।
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।" (प्रकृति-सौन्दर्य)

× × × ×

"रूपसि तेरा घन-केश-पाश।
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश।

सौरभमीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल;
चल अंचल से झर झर झरते,
पथ में जुगुनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से, देता बार-बार,
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास।
रूपसि तेरा घन-केश-पाश।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य 'सत्यं शिवं, सुन्दरम्' होता है। जिस रचना में ये तीनों गुण नहीं पाए जाते वह साहित्य के श्रेष्ठ नाम से विभूषित नहीं की जा सकती। अतः साहित्य सृजन करने वाले को अपनी कृति में इन तीनों का समावेश करने की चेष्टा करनी चाहिये। 'सत्यं, शिवं,

सुन्दरम्' की कसौटी पर कसकर ही रचनाओं का महत्व निर्धारित किया जा सकता है ।

साहित्य का उद्देश्य

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य क्या है ?
(२) साहित्य का उद्देश्य
    (क) नैतिक उत्थान
    (ख) आनन्द की अनुभूति
    (ग) शिक्षा एवं सुधार
(३) उपसंहार—सारांश

साहित्य मानव-जाति के अनुभवों का लिखित भण्डार है । जिस प्रकार मस्तिष्क में मानव के अनुभव संचित रहते हैं उसी प्रकार साहित्य में मानव-जाति के अनुभव संचित रहते हैं । वर्सफोल्ड नामक समालोचक का कथन है— Literature is the brain of humanity. अर्थात् साहित्य मानव-जाति का मस्तिष्क है । अनुभवों का आधार जीवन है । अतः साहित्य का सम्बन्ध जीवन से है । पर 'कलावादी' ऐसा नहीं मानते । उनका मत है कि कला का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता । अतः साहित्य का भी जीवन से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए । किन्तु क्या साहित्य जीवन से पृथक् रह सकता है ? साहित्यकार एक जीवधारी व्यक्ति है । उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है । उसी अनुभव को वह व्यक्तित्व की छाप के साथ साहित्य के रूप में समाज को भेंट कर देता है । साहित्य की जीवन से पृथक् कोई सत्ता नहीं है । उसके द्वारा जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं का विवेचन और भिन्न-भिन्न दशाओं का उद्घाटन किया जाता है । वस्तुतः साहित्य मानव-जीवन का चित्र है जिसमें जीवन-सम्बन्धी बातों पर विचार प्रकट किये जाते हैं । हाँ । इतना अवश्य है कि सामान्य जीवन में साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन का लय हो जाता है ।

साहित्य-सृजन का उद्देश्य क्या है ? नैतिक उत्थान । जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, साहित्यकार जीवन के आन्तरिक सिद्धान्तों की व्याख्या से अपने को पृथक् नहीं रख सकता। जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी न किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही। नीति को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। मैथ्यू आर्नल्ड नामक समालोचक ने कहा है—

"Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question. How to live ? × × × × × A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indefference towards life."

अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन—जीवन व्यतीत करने के प्रश्न पर लागू करने में है। वह कविता जो नीति का विरोध करती है जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है। मैथ्यूआर्नल्ड का यह कथन साहित्य पर भी अक्षरशः लागू होता है, क्योंकि कविता साहित्य का ही एक अंग है।

साहित्य मानव-हृदय की अनुभूति है और मानव-हृदय में ही पहुँचाया जाता है। अतः उसका और आचार का, उसका और नीति का नित्य सम्बन्ध होना वांछनीय है। इन दोनों की घनिष्टता बिना लोकोपयोगी साहित्य का सृजन नहीं हो सकता जो साहित्यकार अपनी रचना में आचार-सम्बन्धी बातों का उल्लेख नहीं करता, जो साहित्यकार समाज को सन्मार्ग पर लाकर उसके उद्धार का प्रयत्न नहीं करता, जो साहित्यकार नीति और मर्यादा का प्रतिपादन नहीं करता, वह और क्या करता है? उसकी रचना का अस्तित्व ही किस लिए है? मर्यादा और नीति का बहिष्कार करके क्या साहित्य लोक का उपकार कर सकता है? पुनीत भावों का संचार करना साहित्य का कर्तव्य है। जो साहित्य ऐसा नहीं करता वह जनप्रिय नहीं हो सकता। समाज को सदाचार की नितान्त आवश्यकता

होती है। नैतिक सिद्धान्तों के पालन विना समाज का कार्य नहीं चल सकता। सच पूछिए तो समाज का आधार ही नैतिकता है। जीवन में सर्वत्र नीति का नियंत्रण देखा जाता है। जहाँ उसका उल्लंघन हुआ जीवन जीवन नहीं रह जाता। नीति-रहित जीवन समाज के लिए विष के समान घातक है। तब कैसे सहन किया जा सकता है कि साहित्य नीति और सदाचार से मुख मोड़ ले और समाज को आचार-भ्रष्ट करे? साहित्य 'शिवं' हो।

साहित्य का उद्देश्य आनन्द की अनुभूति कराना भी है। इसके लिए उसमें सुन्दरता का समावेश किया जाता है। सुन्दरता दो प्रकार की होती है, आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक सौन्दर्य का तात्पर्य सदाचार है जिसके सम्बन्ध में ऊपर विचार प्रकट किए जा चुके हैं। भाव सौन्दर्य भी आन्तरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आता है। उससे भी हमारे हृदय को आनन्द मिलता है। मर्मस्पर्शी रचना पढ़ने की वार-वार इच्छा होती है। वाह्य सौन्दर्य का तात्पर्य मानवीय सौन्दर्य एवं प्राकृतिक सौन्दर्य है। मानवीय सौन्दर्य के अन्तर्गत रूप चित्रण आता है। किसी सुन्दरी का वर्णन पढ़कर हमारा मनोरंजन होता है। इसी प्रकार किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य का चित्रण हमारे हृदय में आनन्द का संचार करता है। इसके अतिरिक्त उक्ति-वैचित्र्य एवं अलंकार-योजना भी साहित्य में सुन्दरता का समावेश करते हुए आनन्द की अनुभूति कराते हैं। प्रत्येक का उदाहरण लीजिए :—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जबतें स्याम सिधारे॥"

(भाव-सौन्दर्य द्वारा)

"रत्नाभरण भरे अंगों में, ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ, जुगुनू जगमग जगते थे॥"

(रूप-सौन्दर्य द्वारा)

"तापस-वाला-सी गंगा कल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलाम्बर॥"

(प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा)

"वकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर वकरी खात हैं, तिनको कौन हवाल ॥"

(उक्ति वैचित्र्य द्वारा)

"तो पर वारों उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरवसी ह्वै उरबसी समान ॥"

(अलंकार द्वारा)

साहित्य का उद्देश्य शिक्षा देना भी है। हिन्दी साहित्य में गिरधर की कुंडलियाँ, रहीम के दोहे, वृन्द के दोहे, कबीर की साखियाँ, दीनदयाल गिर की अन्योक्तियाँ आदि रचनाएँ बड़ी शिक्षाप्रद हैं। उनमें पूर्ण अनुभव की बातें कही गई हैं जिनका पालन करने से जीवन में सफलता मिलती है। एक उदाहरण लीजिए—

"रहिए लटपट काटि दिन वरु घामहि में सोय।
छाँह न वाकी वैठिए जो तरु पतरो होय ॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहे बयारि टूटि तब जर से जैहै ॥
कह गिरिधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए ॥"

नाटक, उपन्यास और कहानियों से भी उपदेश मिलता है। साहित्य के ये अंग सामाजिक कुरीतियों के दुष्परिणाम दिखाते हुए पाठक के हृदय में उनके प्रति घृणा एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न करते हैं। अछूतोद्धार एवं विधवा-विवाह का पृष्ठपोषण तथा दहेज एवं पर्दे की कुप्रथाओं का खंडन हमारा गद्य-साहित्य सुचारुतापूर्वक कर रहा है।

प्रगतिवाद को तो पूँजीवाद और आर्थिक शोषण के विरुद्ध साहित्यिक विद्रोह कहना उचित होगा। आर्थिक जगत में जो साम्यवाद है, साहित्यिक जगत में वही प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी रचनाएँ सुधार का श्रीगणेश कर रही हैं और समाज की विचार-धारा को एक मोड़ दे रही हैं। पूँजीपति और श्रमिक के इस प्रकार के तुलनात्मक चित्र मानव-हृदय को प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ सकते।

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।।
युवती की लज्जा वसन बेच जब व्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।।"

सारांश यह है कि साहित्य का उद्देश्य नैतिक उत्थान द्वारा आत्म-संस्कार, आनन्द की अनुभूति तथा सुधार की योजना करना है। जो साहित्य ऐसा नहीं करता उसको साहित्य कहना विडम्बना है।

सूर की काव्य-गरिमा

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—आविर्भाव के समय की दशा
(२) काव्य-गरिमा—
 (क) वात्सल्य-क्षेत्र में पहुँच :—
 (१) बाल-सुलभ भावों की व्यंजना, (२) बाल-सुलभ चेष्टाओं का चित्रण ;
 (ख) शृंगार-क्षेत्र में पहुँच :—
 (१) संयोग शृङ्गार-सम्बन्धी रचना, (२) वियोग शृङ्गार-सम्बन्धी रचना' ;
 (ग) भक्ति-क्षेत्र में पहुँच,
 (घ) वाह्य दृश्य-चित्रण,
 (ङ) उक्ति का अनूठापन,
 (च) अलंकार-योजना,
 (छ) भाषा
(३) उपसंहार—हिन्दी साहित्य में स्थान।

भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य पूर्णतया स्थापित हो जाने पर हिन्दुओं में गहरी उदासी छा गई। मुसलमान उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे और वे पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़े दीन बने हुए सब कुछ सहते थे। उनका जीवन नीरस एवं निराशामय हो गया था। ऐसे समय उन्हें सान्त्वना देने के लिए, उनके हृदय को हल्का करने के लिए, कवि भक्ति का

मार्ग खोजने लगे। रामभक्त कवि दुष्ट-दलनकारी दीनबन्धु भगवान राम का शक्ति-सम्पन्न रूप दिखाकर तथा कृष्णभक्त कवि सौंदर्यपूर्ण भगवान कृष्ण का हँसता-खेलता रूप दिखाकर हिन्दुओं के भग्न होते हुए हृदय को सँभालने और उनके जीवन में सरसता का संचार करने लगे। उन सब में मुरझाए मनों को सींचनेवाली सबसे मधुर वाणी अंधे कवि सूरदास की थी।

सूरदासजी ने प्रधानतः कृष्ण-जीवन के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को अपने काव्य में प्रदर्शित किया है। उन्होंने बाल्यकाल तथा यौवनकाल की नाना प्रकार की मनोहर परिस्थितियों के विशद् चित्रण द्वारा हिन्दी-काव्य को जगमगा दिया है। वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्‌घाटन उन्होंने अपने बन्द नेत्रों से किया है उतना कोई खुले नेत्रवाला भी नहीं कर सका है। वे तो उनका कोना-कोना झाँक आए हैं, औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं है। उक्त दोनों रसों से सम्बन्धित न जाने कितनी मानसिक दशाओं का समावेश उनके काव्य में हुआ है। उनके एक-एक पद में न जाने कितने भाव उलझे पड़े हैं। उनके 'सूर-सागर' को यदि भाव-सागर कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्रेम-भाव का पूर्ण ज्ञान यदि किसी कवि को था तो वह हृदय के पारखी सूर को। उनका हृदय प्रेम से आप्लावित था। उसके तीनों रूपों—वात्सल्य प्रेम, दाम्पत्य प्रेम एवं भगवद्विषयक प्रेम (भक्ति) का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण उनकी कविता में मिलता है। कृष्णजी की बाललीला के पद वात्सल्य-प्रेम के, गोपी-सम्बन्धी पद दाम्पत्य-प्रेम के और विनय के पद भगवद्विषयक प्रेम के अन्तर्गत हैं।

पहले सूर का वात्सल्य-क्षेत्र लीजिए! कृष्ण की बाल-लीला का बड़े विशद् रूप में चित्रण हुआ है। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रमानुसार अनेक चित्र मौजूद हैं। कवि ने बालकों की अन्तः प्रकृति में प्रविष्ट होकर बाल-सुलभ भावों का बड़ा स्वाभाविक उद्‌घाटन किया है। बालकों में स्पर्द्धा का भाव स्वाभाविक होता है। वे एक-दूसरे की होड़ बहुत करते हैं। देखिए! निम्नांकित पद में कृष्ण

वलदाऊ की चोटी से अपनी चोटी को छोटा देखकर किस प्रकार माता यशोदा से प्रश्न करते हैं—

"मैया कवहिं वढ़ैगी चोटी ?
किती वार मौहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति बल की वेनी ज्यों ह्वै है लांवी मोटी ।।
काढ़ति, गुहति, नहावत, पोंछत, नागिन-सी भुँइ लोटी ।
काचो दूध पियावति पचि-पचि देत न माखन रोटी ।
सूर स्याम चिरजिव दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी ।।"

खिझाने की प्रवृत्ति भी वालकों में होती है। चिढ़ाना उन्हें अच्छा लगता है। शिकायत करना भी उनके स्वभाव में पाया जाता है। वलदाऊ कृष्ण को चिढ़ाते हैं। कृष्ण उनकी शिकायत यशोदा से करते हैं। देखिए—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो ।
मोसों कहत मोल को लीनो, तू जसुमति कब जायो ।
कहा कहों यहि रिस के मारे, खेलन हों नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत, कौन है माता, कोहै तुमरो तात ।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर ।
तारी दे दे हँसत ग्वाल सव, सिखै देत वलवीर !"

खेल में हार-जीत पर वालकों में क्षोभ होना स्वाभाविक है। इस भाव की व्यंजना देखिए—

"खेलत में को काको गोसैंयाँ ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, वरवस ही कत करत रिसैयाँ ।
जाति-पाँति हमते कछु नाहीं ना हम वसत तुम्हारी छैयाँ ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ।
रुहठि करे तासों को खेलै रहे वैठि जहँ तहँ सव ग्वैयाँ ।
सूरदास प्रभु खेलोई चाहत दाँव दियो करि नन्द-दुहैयाँ ।"

इस प्रकार के अनेक भाव 'सूरसागर' में हैं।

वाल-सुलभ चेष्टाओं के चित्रण में तो सूर ने कमाल किया है। इससे उनकी सूक्ष्म-दर्शिता का परिचय मिलता है। पैर का अँगूठा मुख में डालना शिशुओं की स्वाभाविक चेष्टा है। देखिए! वालकृष्ण की यह चेष्टा —

"करि गहि पग अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रँग खेलत।"

हठ करना भी वालकों की स्वाभाविक चेष्टा है। बालहठ प्रसिद्ध है। इच्छा की पूर्ति न होने पर वालक रूठकर धरती पर लोट जाया करते हैं। देखिये! कृष्णजी की इस चेष्टा पर यशोदाजी अप्रसन्न होकर क्या कह रही हैं—

"कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै वात तेरी खोटी।"

शिशु घुटनों के वल चलते हुए अपने सारे शरीर को धूल-धूसरित्त कर लेते हैं। दाल, भात, दही आदि भी उनके मुख की शोभा बढ़ाते रहते हैं। यही दशा कृष्णजी की भी है। देखिए—

"सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।"

इस प्रकार की अनेक चेष्टाओं का 'सूरसागर' भंडार है।

अब शृङ्गार-क्षेत्र की ओर आइये! संयोग और वियोग दोनों पक्षों का जितना प्रचुर विस्तार सूर ने दिया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। वृन्दावन में जब तक कृष्णजी रहे तब तक उनका और गोपियों का क्रीड़ामय सारा जीवन ही संयोग-पक्ष है। दान-लीला, माखन-लीला, चीर-हरण-लीला, रास-लीला आदि पर सहस्रों पद हैं। उनका संयोग-वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं उल्लासपूर्ण है। राधा और कृष्ण में प्रेम की उत्पत्ति रूप-आकर्षण द्वारा हुई। देखिए—

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये श्याम रवितनया के तट, अंग लसहि चन्दन की खोरी॥

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी ।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठि रुचिर झकझोरी ।।
संग लरकिनी चलि इति आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी ।"

छेड़-छाड़ और हास-परिहास कौमार अवस्था की स्वाभाविकता है। इन्हीं साधानों द्वारा गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम का स्वाभाविक प्रारम्भ सूर ने प्रदर्शित किया है। देखिए ! कुमार कृष्ण की कुमारी राधा के साथ छेड़-छाड़ कितनी सुन्दर है—

"बूझत श्याम कौन तू गोरी ?
कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ ब्रज-खोरी ।।
काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी ।
सुनति रहति श्रवननंद ढोठा करत रहति माखन दधि चोरी ।।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ।।"

'तुम्हारो कहा चोरि हम लैहैं ?' में कैसा सुन्दर परिहास है।

कृष्णजी के मथुरा चले जाने पर संयोग शीघ्र ही वियोग में परिणत हो जाता है। वियोग को जितनी दशाएं हो सकती हैं उन सबका समावेश 'सूरसागर' में हुआ है। उसमें वियोगी हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण है। सूर का विप्रलम्भ बहुत व्यापक एवं हृदयस्पर्शी है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं पाई जाती। उसके वर्णन में कवि ने जैसी तन्मयता, जैसी तल्लीनता, दिखाई है वैसी अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। सूर का विप्रलम्भ सचमुच विश्व-साहित्य की अनूठी वस्तु है। कुछ उदाहरण लीजिए।

"निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब तें श्याम सिधारे ।।
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ।।

आँसू सलिल भये पग थाके, वहे जात सित तारे ।
सूरदास अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे ।।"

विरहिणी गोपिकाओं की यह उक्ति कितनी वेदनापूर्ण, कितनी मर्मस्पर्शी है ! इसकी चोट से क्या पाठक घायल हुए बिना रह सकता है ?

"ऊधो इतनी कहियो जाय ।
अति कृशगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ।।
जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हैं नाँव ।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढति सोइ सोइ ठाँव ।।
परित पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं वारि मध्य तें मीन ।।"

जिसके वियोग में पशुओं को इतनी व्यथा हो, इतना संताप हो, उसके वियोग मे आत्मीय जनों की क्या दशा हुई होगी ? गोपियों की इस उक्ति में कितने कारुण्यपूर्ण उद्‌गार हैं ! जब वे अपने दुःख की राम-कहानी कहते-कहते थक जाती हैं तब गायों की दयनीय दशा कहती हैं, जिससे कदाचित् उन्हीं का ख्याल करके प्रियतम कृष्ण आजायँ ।

कभी वे सायंकाल कृष्ण का स्मरण करने लगती हैं—

"एहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते ।
दूरहि तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ।"

कभी वे अपने नैराश्यपूर्ण नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे-भरे वृक्षों को कोसने लगती हैं—

"मधुबन तुम कत रहत हरे ?
विरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

कभी वे रात्रि को सर्पिणी कहने लगती हैं—

"पिया बिनु साँपिनि कारी राति !
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति ।।"

सूर का हृदय कृष्णभक्ति से लबालब भरा था। वे कृष्ण भगवान की सलोनी छवि पर निछावर हो गये थे। देखिए—

"नन्दसुअन की या छवि ऊपर सूरदास बलिहारी।"

वे 'हरिनाम' को निर्बल का बल समझते थे। देखिए—

"सूर किसोर कृपा तें सब बल, हारे को हरिनाम।"

भक्त की दीनता उनके हृदय में कूट-कूट कर भरी हुई थी। निम्नांकित पंक्तियों में इसकी सुन्दर व्यंजना हुई है—

"हरि हौं सब पतितन को नायक।
को करि सके बराबरि मेरी और न कोऊ लायक।"

और देखिए—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब दोनों मिलि एक वरन भईं सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
सो दुविधा पारस नहिं राखत, कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रम जाल कहावै 'सूरदास' सगरो।
अबकी बार मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥"

सूर के बाह्य दृश्य-चित्रण में केवल रूप को स्थान मिला है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति का उपयोग भाव या अलंकार-सामग्री के रूप में हुआ है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कहीं नहीं देखी जाती। देखिए—

"बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भइ विषम ज्वाल की पुंजैं॥"

अथवा—

"देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन।"

रूप-चित्रण तो सूर का बहुत सुन्दर हुआ है। कृष्ण की श्यामल मोहिनी मूर्ति पर गोपियाँ मोहित थीं, ब्रज-जन मुग्ध थे। एक चित्र देखिए—

"नटवर भेष धरे व्रज ग्रावत ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल ग्रलक मुख पर छवि पावत ।।
भ्रकुटी विकट नैन ग्रति चंचल यहि छवि पर उपमा एक भावत ।
धनुस देखि खंजन विवि डरपत उड़ि न सकत उठवे ग्रकुलावत ।।
कनक मेखला कटि पीताम्वर नृत्यत मन्द मन्द सुर गावत ।
सूर श्याम प्रति ग्रंग माधुरी निरखत व्रज-जन के मन भावत ।।"

काव्य की रमणीयता बढ़ाने में उक्ति का ग्रनूठापन विशेष महत्व रखता है । यदि किसी भाव की व्यंजना के लिए वक्र-उक्ति का ग्राश्रय लिया जाय तो काव्य का माधुर्य वढ़ जाता है । सूर ने इस युक्ति का ग्रच्छा उपयोग किया है । किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढँग उन्हें ज्ञात थे । उन्होंने गोपिकाग्रों के मुख से किस ग्रनूठे ढँग से कृष्णजी के सगुण रूप का परित्याग ग्रसम्भव बताया है, देखिए —

"उर में माखन चोर गड़े ।
ग्रब कैसहुँ निकसत नहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु ग्रड़े ।।"

ठीक है, तिरछी होकर ग्रटकी हुई वस्तु कैसे बाहर निकल सकती है ?

एक दूसरे स्थल पर उद्धव द्वारा निराकार-उपासना के प्रतिपादन पर खिन्न गोपिकाग्रों की वचन-वक्रता का परिचय इस उक्ति में मिलता है । वे राधा से कहती हैं—

"मोहन माँग्यो ग्रपनो रूप ।
या व्रज वसत ग्रँचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप ।।"

कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो । वह तुम्हारे हृदय में यहीं रह गया है, क्योंकि तुम उनके रूप का सदैव ध्यान करती रहती हो । ग्रतः कृष्ण वहाँ रूप-रहित, ग्राकार-रहित हो गए हैं । उद्धव द्वारा उन्होंने ग्रपना रूप माँगा है । भाव यह है कि तुम जो कृष्ण का ध्यान करती रहती हो उसे उद्धव छुड़ाने ग्राए हैं । यह बात कितने टेढ़े ढँग से कही गई है ।

सूर का ग्रलंकार-विधान श्रेष्ठ है । उन्होंने ग्रपनी कल्पना के बल से कई स्थलों पर मनोरम ग्रलंकारों की योजना की है । एक उदाहरण लीजिए—

"हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नन्द नन्दन ता दिन ते यह पोच॥
मनौ गोपाल आए मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करों बैरिन भई निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिके, आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥"

किसी गोपी द्वारा स्वप्न में अपने प्रियतम कृष्ण के साक्षात्कार और किसी चकई द्वारा जल में अपना ही प्रतिविम्ब देखकर भ्रमवश अपने पति के दर्शन का कैसा मार्मिक साम्य सूर ने उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त निद्राभंग के कारण संयोग के अभाव और पवन के कारण जल के हिल जाने से प्रतिविम्ब के हट जाने की कैसी सुन्दर समता कवि ने दिखाई है! उपमा अलंकार का यह बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है। सूर ने विशेषकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। इनकी प्रचुरता रूप-वर्णन में मिलती है। कहीं-कहीं सूर ने आलंकारिक कुतूहल भी दिखाया है। जैसे निम्नांकित रूपकातिशयोक्ति में—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर सुकपिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करधन त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरनि को बड़ भाग।"

सूर का काव्य ब्रजभाषा में है। वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है। उसमें कहीं-कहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं तथा अपभ्रंश के शब्द भी पाये जाते हैं। 'आपन', 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग हैं। मँहगी के अर्थ में 'प्यारी' का प्रयोग पंजाबी है। अंधे होने के कारण सूर अपने पदों को सामने रखकर उनकी भाषा का शोधन करने में असमर्थ थे।

यही कारण है कि कई स्थलों पर वाक्य-रचना अव्यवस्थित तथा शब्दों का विकृत रूप देखने में आता है। जैसे—'रहत' का 'राहत', 'पानी' का 'पान्यों' आदि कर दिया गया है। ऐसा तुकान्त की रक्षा के लिए भी करना पड़ा है। वैसे भाषा में सर्वत्र स्वाभाविक मिठास है।

सारांश यह है कि सूर एक महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा जाज्वल्यमान है। उससे हिन्दी-काव्य-क्षेत्र जगमगा रहा है। यद्यपि उसका प्रकाश जीवन के संकुचित क्षेत्र में हुआ है, तथापि उससे उस क्षेत्र का कोना-कोना आलोकित हो गया है। सूर का एक-एक पद भावों से ठसाठस भरा हुआ है। उसमें 'गागर में सागर' का गुण विद्यमान है। उसे सुनकर श्रोता पर क्या प्रभाव पड़ता है, देखिए—

"श्री सूर-कविता सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करे।"

श्रोता मस्त होकर सिर हिलाने लगता है। सूर के पदों के सम्बन्ध में यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, वेध्यो सकल शरीर॥"

सचमुच सूर के पद घायल किए बिना नहीं रहते। उनकी सी मधुरता, उनकी सी सरसता, उनकी सी गंभीरता, उनकी सी मर्म-स्पर्शिता अन्यत्र कहाँ मिल सकती है?

आर्य-संस्कृति

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—प्राचीन काल में आर्य-संस्कृति का स्थान
(२) विशेषताएँ—
(क) आध्यात्मिकता
(ख) जीवमात्र से प्रेम
(ग) सादा जीवन
(घ) सदाचार
(ङ) पुनर्जन्म में विश्वास

(च) आशावाद

(३) उपसंहार—आर्य-संस्कृति का गौरव

एक समय था जब पुण्य-सलिला भगवती भागीरथी के जल से सिंचित, ऋषि-मुनियों की तपोभूमि आर्यावर्त में उदित आर्य-संस्कृति सुधाकर अखिल विश्व में अपनी शीतल एवं शुभ्र चन्द्रिका छिटका रहा था। उसकी शान्ति-प्रदायिनी मृदुल रश्मियाँ सुदूर यूरुप तथा अमेरिका की असभ्य जातियों में भी उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करके उन्हें जाग्रत कर रही थीं। ऐसी कौनसी जाति और ऐसा कौनसा देश था जिस पर आर्य-संस्कृति की छाप नहीं पड़ी थी ? सर्वत्र उसकी तूती बोलती थी। पर आज समय के फेर से वह अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष में ही समादृत नहीं है। चिरकालीन पराधीनता के अभिशाप, पाश्चात्य सभ्यता के व्यापक प्रचार से पदाक्रान्त होकर वह करुण क्रन्दन कर रही है। उस पर चारों ओर विजातीय एवं विदेशी संस्कृतियों के आक्रमण हो रहे हैं, किन्तु उच्च सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण वह अमर है। युग के प्रभाव से भले ही उसका कितना ही ह्रास क्यों न हो गया हो परन्तु उसका लोप नहीं हो सकता।

आर्य-संस्कृति की आधार-शिला आध्यात्मिकता है। उसमें लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयों पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। धर्म, आचार, राजनीति, समाज-व्यवस्था, रहन-सहन, वेष-भूषा, आहार-विहार, सभी आध्यात्मिक भित्ति पर स्थित हैं। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य परमात्मा, चिरशांति एवं, परमानन्द की प्राप्ति है। अतः सब को आध्यात्मिकता के साँचे में ढाला गया है। व्यावहारिक जीवन के प्रति उदासीनता आर्य-संस्कृति की एक विशेषता है। वह हमें लौकिक आकांक्षाओं को घटाकर पूर्ण अपरिग्रह की ओर ले जाती है। उसके अनुसार हमें यह मानव शरीर सांसारिक आमोद-प्रमोदों के लिए नहीं मिला है। 'रामचरितमानस' में कहा भी गया है—

"बड़े भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइ न जे परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥
एहि तन कर फल विषय न भाई।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥"

वह तो मोक्ष का साधन है। संसार के प्रलोभनों में फँसाकर उसे हमें पावन अनुष्ठान से च्युत नहीं करना चाहिए। ठीक इसके विपरीत पाश्चात्य सभ्यता भौतिकता पर आधारित है। उसके अनुसार जीवन का उद्देश्य—'खाना-पीना मौज उड़ाना, (Eat, drink and be merry) शरीर को अधिक से अधिक आराम देना और अधिक से अधिक भोग भोगना है। जहाँ पाश्चात्य सभ्यता में भोग-विलास का प्राधान्य है वहाँ आर्य-संस्कृति में त्याग-विरक्ति की प्रधानता है।

हमारी संस्कृति का इतिहास त्याग की अद्वितीय कहानियों से जगमगा रहा है। महाराज दधीचि, शिवि आदि महान् आत्माओं ने कैसे-कैसे त्याग किए! महाराज दधीचि ने वृत्रासुर नामक राक्षस के वधार्थ अपने शरीर का अन्त करके अपनी हड्डियाँ तक दे दीं। राजा शिवि ने एक कबूतर के रक्षार्थ अपने शरीर का सम्पूर्ण मांस दे दिया। महात्मा गांधी भी त्याग की मूर्ति थे। देश और राष्ट्र पर उन्होंने सर्वस्व निछावर कर दिया और वे आजन्म राष्ट्र-हित का अलख जगाते रहे। वे हमारे लिए ही जिए और हमारे लिए ही मरे। सच है—

"परोपकारार्थं सतां विभूतयः"

आर्य-संस्कृति हमें 'आत्मवत् सर्वं भूतेषु' का पाठ पढ़ाती है। वह हमें सिखाती है कि हम जीव-मात्र को अपनी आत्मा समझें। आज विश्व-बन्धुत्व के आदर्श को सबसे ऊँचा माना जा रहा है। विश्व के सभी राष्ट्र, सभी जातियाँ, सभी मनुष्य आपस में भाई-भाई की भाँति प्रेम पूर्वक रहें, कोई किसी को सतावे नहीं—यही आज के सभ्य समाज की उच्चतम कल्पना है। पर यह आदर्श

आर्य-संस्कृति के आदर्श से कितना नीचे है जिसमें प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश है। 'सर्वभूत-हितेरता.' के अनुसार आर्य-संस्कृति मनुष्य-मात्र का ही नहीं, समस्त जीवधारियों का हित करने की शिक्षा देती है। उसमें किसी मनुष्य को कष्ट पहुँचाने की बात तो दूर रही, मूक प्राणी तक को सताने का निषेध है। शरीर से किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा नहीं है, उसको मन और वाणी से कष्ट पहुँचाना भी हिंसा के अन्तर्गत माना गया है। अहिंसा-भावना इन पंक्तियों में व्यक्त है—

"विधि के बनाए जेते जीव हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देहु ॥"

आर्य-संस्कृति का मूलमन्त्र सादा जीवन (Plain living) है। उसके अनुसार जीवन को उन्नत करने के लिए आवश्यकताओं, सांसरिक पदार्थों के संग्रह, को नहीं बढ़ाना चाहिये, किन्तु अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करना चाहिए। हमें खान-पान, वेश-भूषा, रीत-व्यवहार, रहन-सहन में सादगी रखनी चाहिए, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कम-से-कम धन व्यय करना चाहिये। श्रृंगार और विलासिता में पानी की भाँति पैसे बहाना उचित नहीं है। हमारे पूर्वज अत्यन्त सरल जीवन व्यतीत करते थे। राजे-महाराजे तक दुपट्टा ओढ़कर राज-सभा में बैठ जाया करते थे। उनका व्यय बहुत परिमित होता था। जहाँ तक होता वे अपना कार्य अपने हाथों से करते थे। दिखावटीपन से वे कोसों दूर थे। उनके ठीक विपरीत पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी हैं जो फैशन एवं दिखावटीपन के अंधभक्त हैं और टीम-टाम, चटक-मटक तथा तड़क-भड़क पर न्यौछावर हैं।

आर्य-संस्कृति 'आचारः परमोधर्मः' के अनुसार सदाचार को मनुष्य का परम धर्म बतलाती है। वास्तव में श्रेष्ठ आचरण ही सच्चा धर्म है। जो व्यक्ति किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता, किसी का अहित नहीं करता किसी के साथ बेईमानी नहीं करता, किसी के प्रति अन्याय नहीं करता, किसी पर अत्याचार नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, पर-स्त्री से सम्बन्ध नहीं रखता—निरभिमान है, विनम्र है, उदार है, क्षमाशील है, परोपकारी है वह पूर्ण धार्मिक है। माला फेरना अथवा राम-नाम जपना धर्म नहीं है। सद्गुणों

की जीवन में अवतारणा ही वास्तविक धर्म है । सद्‌गुणों की मूर्ति परमात्मा की मानसिक पूजा से काम नहीं चलेगा, उसके गुणों का अपने जीवन में समावेश करने की आवश्यकता है । तभी आत्म-संस्कार होगा और तभी परमात्मा की प्राप्ति होगी ।

पुनर्जन्म में विश्वास भी आर्य-संस्कृति की एक विशेषता है । उसके अनुसार शरीर का अन्त हो जाने पर जीवात्मा का अन्त नहीं होता । ईसाई तथा मुस्लिम संस्कृति शरीर के नाश के साथ जीवात्मा का नाश मानती है । मनुष्य जब मर जाता है तब उसकी आत्मा कब्र में सो जाती है और जब प्रलय के दिन न्याय होता है तब जगती है । आर्य-संस्कृति आत्मा की अमरता तथा जन्म-जन्मान्तर में उसका भ्रमण मानती है । मनुष्य मृत्युलोक में आता है और अपने कर्म-फल का भोगता है । शरीर का अन्त हो जाने पर वह प्रेतलोक, नरलोक, पितृलोक असुरलोक, स्वर्गलोक आदि में जाता है और घूम-फिरकर पुनः किसी योनि में जन्म लेकर इसी मृत्युलोक में आ जाता है । इस प्रकार वह अपने कर्मानुसार चक्कर लगाता रहता है । जब कर्म का बन्धन छूट जाता है तभी उसे आवागमन से मुक्ति मिलती है ।

आर्य-संस्कृति की अन्य विशेषता आशावाद हैं । हमारे यहाँ निराशावाद के लिए कोई स्थान नहीं है । हमारा वर्त्तमान जीवन सम्पूर्ण जीवन का केवल एक अंश है । जो बात आज नहीं हो सकी है वह कल पूरी हो सकती है या भविष्य में समय आने पर पूरी हो सकती है । फिर निराशा किस बात की ? आशावाद में फूलने-फलने के कारण आर्य-साहित्य की प्रवृत्ति सदैव आदर्शवाद की ओर रही है । उसमें सर्वत्र सत् की असत् पर, पुण्य की पाप पर, सदाचार की दुराचार पर, नीति की अनीति पर विजय दिखलाई गई है ।

आज हम देख रहे हैं कि विश्व में न शांति है न मैत्री, न एकता; चारों ओर अशान्ति के बादल उमड़ रहे हैं । प्रतिहिंसा और शोषण का बोलबाला है । दीन-दुखियों को अत्याचार एवं अन्याय के कोल्हू में कुचला जा रहा है । यदि शांति मिल सकती है तो आर्य-संस्कृति से जिसके आधार पर स्वर्गीय महात्मा गाँधी ने हमारा नेतृत्व किया और जिसकी महत्ता वे सदैव क्रियात्मक रूप में

हमारे समक्ष उपस्थित करते रहे। उनकी क्या राजनीति, क्या समाज-नीति, दोनों ही आर्य-संस्कृति से ओत-प्रोत थीं।

आज हम स्वतन्त्र भारत में साँस ले रहे हैं। आज हमारे सामने बड़ी-बड़ी जटिल समस्याएं हैं। आज हमें अपने लिए शासन-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था स्वयं गढ़नी है। यदि हम पाश्चात्य सभ्यता की अंधभक्ति छोड़कर आर्य-संस्कृति की अपने जीवन में अवतारणा कर लें तो हमारी समस्याएं शीघ्र हल हो जायँ। आर्य-संस्कृति के उच्च आदर्शों में हमारे देश के लिए ही नहीं, अखिल विश्व के लिए शांति का सन्देश निहित है। आर्य-संस्कृति अपना शुभ्रालोक फैलाकर मानव-जाति को शान्ति-देवी के मन्दिर का मार्ग दिखा रही है। केवल इतना ही नहीं, वह मानव-जाति को ऊँचा उठाकर नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर ले जाना चाहती है। हमारी राष्ट्र-नौका के कर्णधार जनराज्य-भवन की नींव आर्य-संस्कृति पर अवलम्बित करें, अपने पूर्वज तत्वदर्शी ऋषियों की इस अद्वितीय देन से लाभान्वित हों, इसी में हमारे राष्ट्र का कल्याण है।

हम तो श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के शब्दों में यही कहेंगे—

"अपनी संस्कृति का अभिमान,
करो सदा हिन्दू-सन्तान।
सब आदर्शों की वह खान,
नर—रत्नत्व करेगी दान॥
अपनी चिर संस्कृति की मूर्ति,
हैं मनुष्यता की परिपूर्ति॥"

—·—

विज्ञान की उपयोगिता

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—विज्ञान का विस्तार
(२) विज्ञान से हित—
(क) स्थान की दूरी में कमी
(ख) समय के अन्तर में कमी

(ग) रोगों की चिकित्सा में सहायता
(घ) मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के साधन जुटाना
(ङ) शृंगार और सजावट की वस्तुएं प्रदान करना
(च) शिक्षा-प्रसार में योग

(३) विज्ञान से अहित—
(क) जीवन नष्ट करने वाले सरल एवं नवीन यन्त्रों का निर्माण
(ख) मशीनों के बाहुल्य द्वारा बेकारी बढ़ना
(ग) अधार्मिकता और भौतिकता का प्रसार
(घ) रहन-सहन का ऊँचा होना
(४) उपसंहार—सारांश

यह विज्ञान का युग है संसार के कोने-कोने में विज्ञान की दुंदुभी बज रही है। चारों ओर वैज्ञानिक आविष्कारों और अनुसंधानों की धूम मची हुई है। आजकल विज्ञान का बहुत प्रचार है। विश्व आज उसका क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ है। जीवन का कोई भी विषय उससे अछूता नहीं रहा है। इतिहास में उसका पर्याप्त प्रवेश हो चुका है। घटनाओं की परीक्षा विज्ञान की कसौटी पर की जाती है। समय का निश्चय भी विज्ञान के नियमों द्वारा होता है। ज्योतिष से ऐतिहासिक समय की जाँच की जाती है। चिकित्सा-क्षेत्र पर भी विज्ञान का आधिपत्य है। धर्म को भी उसने उलट-पुलट दिया है। दर्शन और कला भी उसके ऋणी हैं। जिधर देखिए उधर ही विज्ञान की करामात दिखाई देती है, जिधर देखिए उधर ही विज्ञान के चमत्कार दृष्टिगत होते हैं, जिधर देखिए उधर ही विज्ञान के आविष्कार फैले हैं। चारों ओर क्रान्ति उपस्थित हो गई है।

विज्ञान ने स्थान की दूरी कम करदी है। रेल, मोटर, जलयान, वायुयान आदि यात्रा के तीव्रगामी साधनों से कोई भी स्थान दूर नहीं रह गया है। सबसे द्रुतगति रोकेट की है जिसमें बैठकर चन्द्रमा तक पहुँचने की तैयारियाँ हो रही हैं। विज्ञान के प्रताप से दूर से दूर स्थान भी घर-आँगन हो गया है। वह हमें केवल बात की बात में दूर पहुँचाता ही नहीं, वरन् सहस्रों मील दूर के दृश्यों को टेलीविजन और टेलिस्कोप (दूर-दर्शक-यंत्र) द्वारा दिखाता भी है।

विज्ञान ने समय के अन्तर को भी कम करने के प्रयत्न किए हैं। ऐसी-ऐसी मशीनों के आविष्कार हुए हैं जो क्षणभर में मनुष्य की अपेक्षा कई गुन काम करती हैं। समाचार पहुँचाने के लिए जो आविष्कार हुए हैं उनमें टेलीफोन और रेडियो (वेतार का तार) महत्वपूर्ण हैं । टेलीफोन द्वारा देहली में बैठा हुआ मनुष्य न्यूयार्क में बैठे हुए मनुष्य से उसी प्रकार बातचीत कर सकता है जैसे निकट के मनुष्य से। एक की आवाज दूसरा सुनता है। समय व्यतीत होने का पता तक नहीं चलता। बेतार के तार की तो और भी आश्चर्यजनक कहानी है। बिना तार के ही घर बैठे विश्व-भर की खबरें सुन लीजिए। लन्दन में भाषण हो रहा है—आगरे में सुना जा रहा है। आजकल युद्ध में समाचार फैलाने के लिए इससे अच्छा अन्य कोई साधन नहीं है।

चिकित्सा-क्षेत्र में विज्ञान ने पर्याप्त परिवर्तन किया है। इंजेक्शन, ऐक्सरे आदि चिकित्सा के नये-नये उपयोगी विधान खोज निकाले गए हैं। जिस प्रकार दर्पण में मनुष्य अपना मुख स्पष्ट देख सकता है उसी प्रकार ऐक्सरे द्वारा अपने शरीर की दशा का ज्ञान भली-भाँति हो सकता है। मान लीजिए किसी की कलाई में मोच आ गई है। ऐक्सरे से काँच की पटरी पर कलाई का चित्र ले लीजिए। चित्र से स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि कौन सी हड्डी अपने स्थान से हट गई है। इसी प्रकार यदि कोई बालक छोटा खिलौना निगल गया हो और उसकी जान पर आ बनी हो तो ऐक्सरे से ही खिलौने का अनुसंधान करके ऑपरेशन द्वारा उसकी प्राण-रक्षा की जा सकती है।

विज्ञान ने हमारे लिए मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के अनेक साधन जुटाए हैं। तरह-तरह के वाद्य-यन्त्रों का निर्माण हुआ है। हारमोनियम, ग्रामोफोन प्रभृति बाजों का आनन्द धनिक ही ले सकते हैं। घर बैठे हुए संगीत का रसास्वादन रेडियो द्वारा गरीब नहीं कर सकता। यह सौभाग्य रुपये वालों को ही मिलता है। पर सिनेमा अवश्य धनी-निर्धन सभी का समान रूप से मनोरंजन करता है। दिन भर की थकी-माँदी जनता के लिए इससे सुलभ मनोविनोद का और क्या साधन हो सकता है?

इसके अतिरिक्त बेकारी की भीषण समस्या का जनक भी विज्ञान ही है। मशीनों के बाहुल्य से बेकारी बेतरह बढ़ गई है। एक मशीन सहस्रों मनुष्यों के बराबर काम कर लेती है। अतः जब से विज्ञान ने मशीनों को जन्म दिया तब से अगणित व्यक्तियों की रोटियाँ छिन गई हैं इससे पूर्व प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता था और पर्याप्त जीविका उपार्जन कर लेता था। पर अब मशीनों ने सब उद्योग धन्धों को कुचल दिया है। मशीनों द्वारा निर्मित माल सस्ता पड़ता है। उसकी प्रतियोगिता में हाथ का बना हुआ माल नहीं ठहर सकता। यही कारण है कि आजकल घरेलू धन्धे नष्ट हो गए हैं और बेकारी भीषण रूप धारण किये हुए है। पूँजीवाद भी विज्ञान की ही देन है।

जीवन में विलासिता और भौतिकता का प्रवेश कराने का उत्तरदायित्व भी विज्ञान पर ही है। उसने संसार का रंग-रूप इतना आकर्षक बना दिया है कि मनुष्य उससे आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। बिजली का शुभ्र और जगमगाता हुआ प्रकाश, बिजली के पंखे की शीतल समीर, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन, क्रीम-पाउडर, सिनेमा इत्यादि विज्ञान की करामातों ने मानव-समाज को विलासिता की ओर अग्रसर किया है। आत्मा भुला दी गई है। धर्माचरण की बात कौन सुनता है? 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' की प्रतिध्वनि से समस्त विश्व गूँज रहा है।

विज्ञान ने मनुष्यों की रहन-सहन भी ऊँची कर दी है। बहुत सी तरह-तरह की सुख-सामग्री जुटाकर उसने मानव-आवश्यकताओं को कई गुनी कर दिया है। आवश्यकताएं तो बढ़ गई हैं, परन्तु आर्थिक दशा के न सुधरने से उनकी पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव मनुष्य-समाज दुःखी है।

सारांश यह है कि विज्ञान ने यद्यपि मानव-जाति की अनेक सेवाएं की हैं, उसे आराम की विविध वस्तुएं प्रदान की हैं, उनकी कठिनाइयाँ दूर की हैं, तथापि उससे जन-साधारण का अहित भी हुआ है और हो रहा है। विश्व में अशान्ति फैलाने वाले जर्मनी और जापान ने विज्ञान की सहायता से ही स्वतन्त्र राष्ट्रों का रुधिर चूसा। विज्ञान ने ही गरीबों की जीविका छीन कर

शृंगार और सजावट के नये-नये साधनों का प्रदान-कर्त्ता विज्ञान ही है कमरे को सजाने के लिए विद्युत का दमदमाता हुआ शुभ्र प्रकाश और शीतलता देनेवाला पंखा इसी की देन हैं। मुँह की शोभा बढ़ाने के लिए विज्ञान ने जहाँ नाना प्रकार के क्रीम-पाउडरों को जन्म दिया है वहाँ सिगार-सिगरेट की भी उत्पत्ति की है। होठों को सुसज्जित करने के लिए लिपिस्टक दी है। केशों का शृंगार करने के लिए तरह-तरह के काँटों और तेल आदि की उत्पत्ति हुई है। हाथ की शोभा बढ़ाने के लिए रिस्ट-वाच और जेब को आकर्षक बनाने के लिए फाउन्टेनपैन की प्राप्ति विज्ञान की ही कृपा का फल है।

शिक्षा-प्रसार में भी विज्ञान ने योग दिया है। यद्यपि अध्यापक के बिना इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती तथापि रेडियो ने इस दिशा में काफी काम किया है। कतिपय देशों में शिक्षा-प्रसार के लिए रेडियो का प्रयोग हुआ है। रेडियो-स्टेशनों पर विद्वानों से विभिन्न विषयों पर भाषण दिलाए जाते हैं और वहाँ से उन्हें चारों ओर भेज दिया जाता है। आशा है कि टेलीविजन इस कार्य में अधिक सहायक सिद्ध होगा। अभी तो ऐसे विषयों का ज्ञान कराना कठिन हो रहा है जिनमें चित्रों की आवश्यकता होती है। टेलीविजन इस कठिनाई को दूर कर देगा।

जहाँ पर विज्ञान से मानव-जाति का हित हुआ है वहाँ अहित भी हुआ है उसका यश-मयंक कालिमापूर्ण है। यदि जीवन में मधुरता का संचार करने वाले आविष्कार हुए हैं तो नष्ट करने वाले आविष्कार भी हुए हैं। ऐसे अनेक प्राण-घातक यंत्रों का निर्माण हुआ है जो क्षण भर में असंख्य प्राणियों की हत्या कर सकते हैं। बन्दूक और रिवाल्वर की बात जाने दीजिए। मशीनगन और डाइनमाइट से गाँव के गाँव उजड़ सकते हैं। एटम-बम तो अत्यन्त विध्वंसक है। बड़े से बड़े नगर का नाम-निशान क्षणभर में मिटाने के लिए केवल एक एटम-बम पर्याप्त है। इस प्रलयकारी नवीन आविष्कार ने विश्व में तहलका मचा दिया है। सबमेरीन (पनडुब्बियाँ) जलयानों की पेंदी में छेद करके उन्हें जल-मग्न कर देती हैं। यू-बोट और टारपीडो भी कम घातक नहीं हैं। ऐसी विषैली गैसें आविष्कृत हुई हैं जिनमें सांस लेते ही मनुष्य का काम तमाम हो जाता है।

पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरी हैं और उन्हें बेकार बना दिया है। विज्ञान ने ही जीवन में भौतिकता का समावेश करके उसे रक्तहीन अस्थिपंजर बना दिया है।

समाज-सेवा

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—भारतीय संस्कृति और समाज-सेवा
(२) राष्ट्रोत्थान के लिए समाज-सेवा-भावना की आवश्यकता
(३) वर्त्तमानकाल में हमारे देश में इस भावना का अभाव
(४) समाज-सेवा का रूप
(५) उत्तर प्रदेश का इस दिशा में प्रयास
(६) उपसंहार—सारांश

संसार के इतिहास में समय-समय पर समाज-सेवा का आदर्श रखने वाले महान् पुरुषों के जीवन की अमर कथायें मानवता के लिये प्रकाश और प्रेरणा के रूप में सदैव ही अमर रहेंगी। भारतीय संस्कृति तो पग-पग पर समाज-सेवा का संदेश सुनाती रही है। हमारी सभ्यता का प्रतीक ही समाज-सेवा है। नालंदा एवं तक्षशिला के अमर विश्वविद्यालयों की गाथा उस युग की समाज-सेवा-भावना का साकार रूप थी। हमारा तो शिक्षा-आधार ही समाज-सेवा रहा है। गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली, जहाँ शिक्षा केवल राष्ट्र एवं समाज-सेवा की भावनाओं से अनुप्राणित होकर दी जाती थी, हमारी शिक्षा-योजनाओं का प्रमुख अङ्ग थी।

सेवा की भावना मानव-हृदय की स्वभाव-गत पिपासा है। प्रत्येक प्राणी में यह भावना बीज रूप में विद्यमान रहती है। परिस्थितियों के अनुकूल एवं प्रतिकूल होने पर इसमें परिवर्तन होता रहता है। राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान-पतन इन भावनाओं को जाग्रत एवं मृतवत् करने में सहायक होता है। सेवा-भावना से प्रेरित होकर लोक-हित में लगे हुए समाज-सेवी महापुरुष

अपनी जाति, देश और समस्त प्राणी-मात्र के लिए अपने जीवन को अर्पण करते रहे हैं। यह सेवा-भावना प्रत्येक देश, जाति एवं प्राणी-मात्र की उन्नति के लिए परमावश्यक है। भारत का इतिहास इस प्रकार के अगणित उदाहरणों से भरा पड़ा है। इस अन्धकार-युग को युगावतार महामानव बापू के रूप में भगवान् ने शक्ति-पुञ्ज की दीप्त ज्वाला प्रदान की। उस महामानव ने पराधीनता से जकड़े हुये आत्मविस्मृत भारत के समक्ष अपने अथक् परिश्रम, अपरिमित त्याग तथा आदर्श बलिदान से समाज-सेवा का पाठ भारत के ही नहीं अपितु समस्त जगत के समक्ष उपस्थित कर दिया।

प्रत्येक राष्ट्र के उत्थान के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ के नागरिक पारस्परिक कठिनाइयों का हल स्वयं ही करें। स्वतन्त्र देश में वहाँ के नागरिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये शासन की ओर उन्मुख नहीं होते। वे एक-दूसरे के सहयोग से ही अपने स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते रहते हैं। उनके समस्त कार्य इस भावना से ओत-प्रोत रहते हैं कि उनके पड़ौसी की हानि उनकी ही हानि है। इस भावना का फल यह होता है कि समाज में कोई भी काम ऐसा नहीं होने पाता जिससे राष्ट्रीय उन्नति में बाधा उपस्थित हो। समाज-सेवा की कसौटी यही है कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति हो। जर्मनी जैसे छोटे से राष्ट्र में यह नियम लागू था कि इक्कीस वर्ष के युवकों एवं युवतियों को समाज-सेवा-गृह में एक वर्ष सेवा-व्रत ग्रहण करना चाहिए। इस काल में वे सभी प्रकार के छोटे-बड़े शारीरिक श्रम के कार्य करते थे। इसके अन्तर्गत मकान बनाना, गाँव की सफाई करना, सड़कें बनाना आदि कार्य थे। इसी योजना के फलस्वरूप इन समाज-सेवी युवकों और युवतियों द्वारा सुन्दर सड़कों का जाल जर्मनी के कोने-कोने में बिछा दिया गया था।

हमारे देश की तो दशा ही विचित्र है। इसका प्राचीन स्वर्ण-युग केवल कल्पना-मात्र प्रतीत होता है। लगभग तीन सौ साल की परतन्त्रता में भारत का जितना चारित्रिक ह्रास हुआ है उतना भारतीय इतिहास में कभी किसी की कल्पना में भी नहीं आया था। इन दासता की शताब्दियों में हमारा एक

मात्र ध्येय केवल अपनत्व की भावना ही हो गया। सामूहिक लाभ-हानि हमारे लिये एक विडम्बना सी बन गई है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र का पतन स्वाभाविक ही है। दासता के अनेकों अभिशापों के साथ-साथ समाज-सेवी की पुनीत भावना का नाश भी अङ्गरेजी शासन का एक लक्ष्य रहा था। यदि व्यक्ति में समाज-सेवा के कर्त्तव्य के प्रति चेतना विद्यमान रहती है तो उस देश के नागरिक अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति और अपने आत्माभिमान की रक्षा कर सकते हैं।

भारत की अपनी सांस्कृतिक निधि महान् है। आज देश स्वतन्त्र है। प्रत्येक नागरिक पर देश की सर्वतोमुखी उन्नति का भार है। देश के नाम पर १८५७ से लेकर १९४२ तक की क्रान्तियाँ हमें अपने कर्त्तव्य-पथ की ओर अग्रसर होने के लिये आह्वाहन करती रही हैं। अगणित शहीदों के बलिदान स्वतन्त्रता के स्वर्णिम पुष्पों के रूप में विकसित हो चुके हैं। उनकी रक्षा एवं संवर्द्धन हमारा कर्त्तव्य है। देश की उन्नति के लिये यह अनिवार्य है कि हम अपनी समाज-सेवा की लुप्त भावनाओं को पुनः जाग्रत करें।

देश के उत्थान तथा सर्वतोमुखी विकास के लिये समाज-सेवा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह कार्य देश के भावी नागरिकों की सुशिक्षा द्वारा सरलता से सम्पादित किया जा सकता है। समाज-सेवा का कार्य शिक्षकों और शिक्षार्थियों पर पूर्ण रूप से निर्भर है। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर विद्यालय के छात्रों तक में इस सेवा-भावना का उदय आवश्यक है। समाज सेवा के कितने ही प्रकार हैं। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें कार्यान्वित करने में अपना योग दे सकता है। कोई कारण नहीं है कि स्वत्रन्त देश के नागरिक होने के नाते आज हम अपने उत्तरदायित्व की गुरुता को न समझें अथवा उसे कार्यान्वित करने से विमुख हों। छोटे-छोटे कार्य को सम्मान-कार्य समझना समाज-सेवा की कुंजी है। नगर अथवा गाँव, जहाँ भी हम रहते हों वहाँ की उन्नति करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है। समाज-सेवा का व्रत हम ले लें तो हमारे नेताओं का भार बहुत कुछ हल्का हो जाय और राष्ट्र-निर्माण कार्य में बहुत बड़ी सहायता मिले।

स्काउटिंग, जूनियर रेडक्रॉस, बाल-सभायें आदि ऐसी संस्थायें हैं जिनकी नींव समाज-सेवा पर आधारित है। पाठशालाओं एवं छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थाओं में उपयुक्त समाज-सेवा-संस्थायें विद्यमान हैं, परन्तु वे लगभग निष्प्राण हैं। उनका अस्थि-पंजर मात्र ही दिखाई पड़ता है। इन संस्थाओं को नव-राष्ट्रीय जागरण की भावनाओं से परिपूर्ण करके पुनर्जीवित करना हमारा कर्त्तव्य है। कठिनाई एवं अवनति के गर्त में पड़े हुए साथियों की सेवा करना समाज की सेवा है। उदाहरण के रूप में; यदि हम किसी गाँव को लें तो उस गाँव की सर्वतोमुखी उन्नति करना समाज-सेवा है। उस गाँव की गन्दी गलियों की सफाई, कूड़ा-करकट के यत्र-तत्र ढेरों की समुचित व्यवस्था, कच्चे, टूटे-फूटे प्रकाश एवं शुद्ध वायु-हीन मिट्टी के घरोंदों का कायाकल्प तथा गाँव की अशिक्षा एवं पार्टीबन्दी का नाश करके सेवा कार्यों द्वारा उचित मार्ग-प्रदर्शन करना समाज-सेवा के अन्तर्गत आता है। समाज-सेवा की कसौटी यह है कि मनुष्य स्वयं कार्य करे, स्वयं श्रमदान करे। व्याख्यान तथा कोरी लम्बी-चौड़ी बातों का समाज-सेवा से कोई सम्बन्ध नहीं है। समाज-सेवा तो मानव-हृदय की उच्चतम भावनाओं को साकार रूप प्रदान करने में ही निहित है। बातों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। समाज-सेवी निःस्वार्थ भाव से अपने समाज की सेवा इसलिए करता है कि उसके समाज का दुःख दूर हो और उसके राष्ट्र की उन्नति हो।

नवयुवकों में समाज-सेवा की भावनायें जाग्रत करने के लिए हमारे प्रदेश की सरकार ने एक ठोस कदम उठाया है। वास्तव में नवयुवक ही हमारे देश के भावी भाग्य-निर्माता होंगे। विश्वविद्यालयों की शिक्षा ने हमारे नवयुवकों व नवयुवतियों का सभी दृष्टियों से अत्यधिक पतन कर दिया है। उनकी मनःस्थिति वहाँ कुछ इस प्रकार की ढल कर आती है कि वे अपने को साधारण जन से विभिन्न एवं उच्चतर समझने लगते हैं। शारीरिक श्रम उनकी दृष्टि में हेय होता है। वे ग्रामवासियों को, जो वास्तव में हमारे अन्नदाता हैं, नितान्त मूर्ख एवं पशु समझते हैं। इन अनर्गल, अवांछनीय एवं हानिप्रद भावनाओं को समूल उखाड़ फेंकने की दृष्टि से ही सामाजिक-सेवा शिक्षण-विद्यालय का श्रीगणेश हमारी प्रान्तीय सरकार ने किया है। इस योजना का उद्देश्य प्रान्त के नव-

युवकों को स्वतन्त्र देश के नागरिकों के कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व की शिक्षा देना है। यह योजना उनके उत्साह तथा उनकी शक्ति को क्रियात्मक रूप देने के लिये निर्मित हुई है। इसका ध्येय यह भी है उनके जीवन में वे पक्ष उपस्थित किये जायें जिनके प्रति उनकी उदासीनता तथा अवहेलना रही है। इसके द्वारा वे ग्राम्य-समस्याओं का स्वयं ही अध्ययन कर सकेंगे और शारीरिक श्रम द्वारा अपने स्वास्थ्य का सुधार करके ग्रामवासियों के स्वास्थ्य-निर्माण तथा अन्य उन्नत-कार्यों में योग दे सकेंगे।

समाज-सेवा वास्तव में एक महान् व्रत है। इसके व्रती को अपनी बहुत सी भौतिक सुविधाओं तथा सुखों का परित्याग करना पड़ता है। यह तो बलिदान की वह पराकाष्ठा है जिसमें आत्म-सन्तोष एवं सुख के अतिरिक्त साधारणतया अन्य कोई सांसारिक महानता प्राप्त नहीं होती। संसार के सभी प्रकार के समाज-सुधारकों एवं समाज-सेवियों ने अपने प्राणों का समय-समय पर उत्सर्ग किया। तत्कालीन जनता ने इस समाज-सेवा के लिये उनकी कड़ी भर्त्सना की और कुछ के प्राण तक ले लिये। यूनानी दार्शनिक सुकरात को विष का घूंट पीना पड़ा। प्रभु ईसामसीह को क्रॉस पर अपने प्राण देने पड़े। हमारे देश में भी समाज-सेवियों के जीवन-बलिदान की अनेक गाथायें हैं। अभी कल की बात है कि मारे बापू, जो समाज-सेवा के ज्वलन्त प्रतीक थे, अपना महान् सेवा-व्रत पालन करते-करते गोलियों के शिकार हुए। सेवा का व्रत तो तलवार की धार के समान है। समाज-सेवी कभी हताश नहीं होता। जब चारों ओर निराशा की काली रात्रि अपना अंचल फैला कर विद्यमान रहती है उस समय भी यह व्रती आशा की किरण लिये हुये अपने कार्य में निरन्तर रत रहता है। अपना-पराया उसके लिये झूठा बन्धन है।

स्वतन्त्र भारत के पुनरुत्थान के साथ-साथ समाज-सेवा का भाव देश में व्यापक जाग्रति पैदा करेगा। प्राचीन भारत की परम्पराओं को जागरूक करने में समाज-सेवा-व्रती देश के आगे लिखे जाने वाले इतिहास में अपना विशेष स्थान रखेंगे। हम अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के आदर्शों को ग्रहण करके संसार में पुनः विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं को जाग्रत करके मानव-सेवा का

व्रत लेंगे। आज के भयानक संघर्ष एवं कुत्सित भावनाओं के इस युग में समाज-सेवा का पाठ अपना विशेष स्थान रखेगा। यदि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त संसार समझ ले तो यह अमानवीय संसार वास्तव में मानवीय बन जाय। अवश्य ही भारत इस दिशा में संसार का पथ-प्रदर्शन करेगा।

———

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोष

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—आधुनिक शिक्षा-पद्धति से देश, समाज और विद्यार्थियों की दुर्दशा

(२) आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोष—

(क) शारीरिक स्वास्थ्य को हानि

(ख) चरित्र-पतन

(ग) शिक्षा का अत्यन्त व्ययपूर्ण होना

(घ) बहु-विषयात्मक ज्ञान की व्यवस्था और इसका दुष्परिणाम

(ङ) शिक्षा की कसौटी परीक्षा होना

(च) शिक्षा का अव्यावहारिक होना

(छ) मौलिकता का अभाव

(ज) रहन-सहन का ऊँचा होना

(३) आधुनिक शिक्षा-पद्धति के गुण—

(क) देश-प्रेम की भावना की जाग्रति

(ख) मानसिक विकास और ज्ञान-वृद्धि

(४) उपसंहार—सुधार की नितान्त आवश्यकता और सरकार का प्रयत्न।

आजकल हमारी शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध देश के कोने-कोने में आवाज उठाई जा रही है। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि इससे समाज को कितनी हानि हुई है, इससे देश कितना नीचे गिरा है। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि इसका उद्देश्य व्यक्ति को पराधीन बनाकर सरकारी नौकरी के लिये तैयार करना है। मैकॉले ने इसका सूत्रपात शासन चलाने के निमित्त क्लर्क तैयार करने को किया था। यह दोष-पूर्ण है। जब तक इसमें सुधार नहीं होगा भारतवर्ष

कभी उन्नति नहीं कर सकता। इधर कुछ दिनों से तो इसकी विकरालता और भी बढ़ गई है। जब तक शिक्षित लोग सरकारी नौकरियों में खपते रहे तब तक इसका वास्तविक रूप नहीं दिखाई दिया, आज इसका नग्न रूप देखकर समाज व्याकुल हो गया है और इसका विरोध कर रहा है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणालीने भारतीय छात्रों की जो दुर्दशा की है वह किसी से छिपी नहीं। यह देखा जाता है कि वे शिक्षा प्राप्त करने में सहस्रों रुपये व्यय करते हैं, पर स्कूल या कॉलेज से निकलने के पश्चात् उन्हें कोई टका-सेर नहीं पूछता, वे जीविकोपार्जन नहीं कर सकते। वे दर-दर नौकरियों के लिए फिरते हैं, पर उन्हें कहीं भी नौकरी नहीं मिलती। शिक्षित नवयुवकों में बेकारी इतनी बढ़ी हुई है कि एक छोटी-सी नौकरी के लिए सैकड़ों ग्रेजुएटों के प्रार्थनापत्र आते हैं। शिल्प-कला की शिक्षा का प्रबन्ध न होने के कारण शिक्षित-वर्ग कोई उद्योग-धन्धा करके रोटी की समस्या हल नहीं कर सकता। वह सदैव पराधीन बना रह कर दूसरों का मुँह ताकता रहता है। कितने खेद की बात है कि जो विद्यार्थी अपने अर्द्धजीवन तक शिक्षा-प्राप्ति में लगा रहता है, जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ विद्यादेवी की आराधना में जुटा देता है, जिसका जीवन त्याग-पूर्ण होता है, वह पेट के लिए तरसे! बेकारी से ऊबकर कितने ही शिक्षित नवयुवक अपनी जीवन लीला समाप्त कर डालते हैं। बहुत से नवयुवक कुशाग्र बुद्धि, अथाह ज्ञान भंडार और असीम उत्साह के होते हुए भी मनमारे अपने निरर्थक जीवन और दूषित शिक्षा पर आँसू बहाते रहते हैं, उसको कोसते रहते हैं। किसी देश के लिए इससे बढ़कर हृदय-विदारक दृश्य और क्या हो सकता है?

हमारी आधुनिक शिक्षा ने नवयुवकों के स्वास्थ्य पर भी कुठाराघात किया है। आजकल की शिक्षा मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा—इन तीनों अंगों में से मस्तिष्क का ही विकास करती है। शरीर और आत्मा का विकास करना उसका लक्ष्य नहीं। यही कारण है कि स्कूलों और कॉलेजों में न तो छात्रों के स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता है और न चरित्र-निर्माण पर। शारीरिक व्यायाम के लिए विद्यालयों में यथोचित प्रबन्ध नहीं होता। जब कभी विद्यार्थी फुटबॉल, हॉकी, टैनिस, वॉलीबॉल आदि खेल खेल

लेते हैं। इन खेलों से प्राय: छात्रालय के निवासी ही अधिक लाभ उठाते हैं। नगर में रहने वाले विद्यार्थी उनसे वंचित से रहते हैं। उनका शारीरिक विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि शिक्षित मनुष्य का स्वास्थ्य अशिक्षित के स्वास्थ्य की अपेक्षा बुरा देखा जाता है।

शारीरिक विकास से भी बुरी दशा है आत्मिक विकास की। आत्मा को तो आधुनिक शिक्षा ने बिल्कुल भुला दिया है। छात्रों को धर्म से विमुख करके इसने शताब्दियों के संग्रहीत पुनीत संस्कारों को ठुकराया है। विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण के लिये शिक्षालयों में कुछ भी व्यवस्था नहीं की जाती। न कोई उपदेशक रक्खा जाता है न ईश्वर-प्रार्थना कराई जाती है और न सदाचार सम्बन्धी अथवा धार्मिक भाषण कराए जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियों का तथा नवयुवकों का चरित्र. दूषित हो जाता है। उनमें संयम, नियंत्रण, अनुशासन, गुरुजनों के प्रति आदर-भाव, विनय आदि उदात्त गुण नहीं पाए जाते। वे उत्कृष्ट नागरिक नहीं बन सकते। कहने की आवश्यकता नहीं कि चरित्र जीवन का सिरमौर है। उसके दूषित हो जाने से मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। किसी विद्वान ने कहा भी है—

"When wealth is lost nothing is lost,
When health is lost something is lost,
When character is lost everything is lost."

अर्थात् धन नष्ट होने पर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्य नष्ट होने पर कुछ नष्ट होता है और आचरण नष्ट होने पर सर्वस्व नष्ट हो जाता है। जिस चरित्र का जीवन में इतना महत्त्व है उसके विकास के लिए, उसे सुधारने के लिए, आधुनिक शिक्षा कुछ भी प्रबन्ध नहीं करती, यह खेद की बात है।

आधुनिक शिक्षा व्यय-साध्य है। उसकी प्राप्ति में विद्यार्थियों को सहस्रों रुपये व्यय करने पड़ते हैं। देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि सर्वसाधारण ऐसी बहुमूल्य शिक्षा को नहीं प्राप्त कर सकता। तब शिक्षा के बिना किस प्रकार देश की उन्नति हो? हमारी समझ से तो दरिद्र भारतवर्ष के लिए सरकार को कम से कम निःशुल्क प्रारम्भिक तथा माध्यमिक

शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रजा की रक्षा करना राजा का धर्म है, उसी प्रकार प्रजा को शिक्षित करना भी राजा का धर्म होना चाहिए।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति के अनुसार विद्यार्थी को कई विषयों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। उसका उद्देश्य विद्यार्थी, 'Jack of all but master of none''—अर्थात् सभी विषयों का ज्ञाता बनाना है, पर किसी भी विषय का पंडित बनाना नहीं। अतः प्रत्येक छात्र को बी० ए०, बी० एस-सी० या बी० कॉम० तक कई विषय सीखने पड़ते हैं। केवल एम० ए०, एम० एस-सी० या एम० कॉम० में जाकर एक विषय रह जाता है। यह अच्छा नहीं है। यह तो वाञ्छनीय है कि हाईस्कूल तक विद्यार्थी को कतिपय आवश्यक विषयों का स्थूल ज्ञान करा दिया जाय। किन्तु तत्पश्चात् उसे केवल एक ही मनोनीत विषय की शिक्षा मिलनी चाहिए। इस प्रकार के कई विषयों का भार उसके ऊपर लादने से क्या लाभ जिनकी उसके जीवन में कोई उपयोगिता नहीं अथवा जिनमें उसकी रुचि नहीं ? इस बिल्कुल बहु-विषयात्मक व्यवस्था का यह दुष्परिणाम होता है कि उसकी शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट होती हैं और अपने विषय का पंडित बनने में उसे बहुत समय लग जाता है। कुछ विद्यार्थी तो बहुविषयों के भँवर में फँसकर शिक्षा प्राप्त करने में असफल सिद्ध होते हैं।

आधुनिक शिक्षा में योग्यता की कसौटी परीक्षा है। परीक्षा लेकर प्रत्येक विषय, प्रत्येक कक्षा की योग्यता आँकी जाती है। तीन घण्टे में हल किए हुए थोड़े से प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर किसी के ज्ञान का ठीक पता नहीं चल सकता। कभी-कभी विषय के अच्छे जानने वाले विद्यार्थी परीक्षा में असफल हो जाते हैं और विषय के कम जानने वाले सफल। इससे विदित होता है कि परीक्षा किसी के ज्ञान की सच्ची कसौटी नहीं है। यदि परीक्षा के साथ-साथ विद्यार्थियों के उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण करने के लिए उनके वर्ष भर के कार्य पर विशेष ध्यान दिया जाया करे, तो अच्छा हो।

आजकल की शिक्षा का अन्य दोष उस की अव्यवहारिकता है। वह पुस्तकगत ज्ञान ही प्रदान करती है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि जिन कार्यों में शारीरिक परिश्रम वांछनीय है उन्हें शिक्षित-समाज घृणा की दृष्टि से देखता

है। पुस्तक-गत ज्ञान से जीवि का का प्रश्नकैसे हल हो ? कृषि, व्यापार, शिल्पादि, व्यवहारिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे शिक्षित लोग अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी जीविका उपार्जन कर सकें और बेकारी के चंगुल से मुक्त रहें।

आधुनिक शिक्षा का अन्य दोष यह है कि यह हमारे नवयुवकों में मौलिकता उत्पन्न नहीं करती, उन्हें स्वयं सांसारिक ज्ञान-वृद्धि में कुछ योग देने वाला नहीं बनाती। यही कारण है कि पश्चात्य देशों की भाँति हमारे यहाँ आविष्कारक, अन्वेषक, साहित्यकार एवं कलाकार नहीं पैदा होते और होते भी हैं तो बहुत कम। ज्ञान-प्राप्ति उतनी आवश्यक नहीं जितनी ज्ञानवृद्धि में सहायता। स्वर्ण की अपेक्षा पारस कहीं अच्छी वस्तु है जो स्वर्ण बनाती है।

वर्त्तमान शिक्षा का अन्य दोष विद्यार्थियों का रहन-सहन ऊँचा करना है। 'सादा जीवन, उच्च विचार' भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है। वर्त्तमान शिक्षा ने हमारे नवयुवकों को फैशन का गुलाम बनाकर इस पर कुठाराघात किया है। आजकल की शिक्षा रहन-सहन तो ऊँचा कर देती है, पर धनोपार्जन के योग्य विद्यार्थी को नहीं बनाती। इसके दुष्परिणाम होते हैं—नवयुवकों में असंतोष, खिन्नता और क्षोभ की उत्पत्ति।

पर जहाँ आधुनिक शिक्षा में उपर्युक्त दोष विद्यमान हैं वहाँ उसमें कतिपय गुण भी हैं। उसने हमारे हृदय में देश-प्रेम की भावना जाग्रत की है। अँग्रेजी साहित्य उक्त भावना से ओत-प्रोत है। वर्त्तमान शिक्षा द्वारा अँग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से हमारे देश में देश-प्रेम उमड़ पड़ा है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से मानसिक विकास और ज्ञान वृद्धि भी हुई है। आजकल हमारे देश में अच्छे-अच्छे विद्वान् हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्होंने विश्वम्भर में अपनी विद्वत्ता की धाक जमा दी है। सर सी० वी० रमन और राधाकृष्णन का नाम कौन नहीं जानता ? स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र, सी० आर० दास, पं० मोतीलाल नेहरू, डॉक्टर गणेशप्रसाद का बौद्धिक विकास करने वाली यही शिक्षा थी।

इस प्रकर हम देखते हैं कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में दोष अधिक हैं और गुण कम। यह नवयुवकों के जीवन को नीरस तथा कंटकाकीर्ण बना रही

है। अतः सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि हमारी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और शिक्षा-पद्धति में सुधारों की योजना की जा रही है। बेसिक शिक्षा का सूत्रपात हो चुका है और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के सुधारों की रूप-रेखा निर्धारित की जा रही है। आशा है निकट भविष्य में हमारी शिक्षा दोषों से मुक्त होकर हमारे तथा राष्ट्र के कल्याण का साधन बनेगी।

———

'स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष'

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—स्वावलम्बन की महत्ता
(२) स्वावलम्बन से लाभ—
  (क) उन्नति (ख) सुख, सन्तोष और शान्ति (ग) आत्म-संस्कार
  (घ) गौरव तथा यश
(३) स्वावलम्बन से देश तथा समाज का हित
(४) कतिपय स्वावलम्बी आत्माएँ
(५) उपसंहार—हमें स्वावलम्बी होना चाहिए।

सचमुच स्वावलम्बन वह अद्वितीय सम्पत्ति है जिसके समक्ष कुबेर का कोष भी तुच्छ है। स्वावलम्बन वह स्वर्गीय शक्ति है जिसके सम्मुख कठिनाइयों के पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। स्वावलम्बन वह दिव्य गुण है जिसके सामने सफलता देवी हाथ जोड़े हुए खड़ी रहती है। जिसमें यह दैवी गुण है वह जल में तूँबी के सदृश सब के ऊपर रहता है। शरीर-बल, प्रभुता-बल, धन-बल, विद्या-बल, प्रभृति जितने बल हैं वे स्वावलम्बन के बल के सामने श्रीहीन हो जाते हैं। रूस, इङ्गलेण्ड, अमेरिका आदि देश जिनके भाग्य का सितारा आज सातवें आसमान पर चमक रहा है, जो आज मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, स्वावलम्बन के कारण ही इतने ऊँचे उठे हैं। इनके अभ्युत्थान का रहस्य स्वावलम्बन ही है। भारतवर्ष की वर्तमान अधोगति का मूल कारण स्वावलम्बन का अभाव है। हम भारतीयों में अपने पैरों पर खड़े होने की भावना ही नहीं रह गई है। आजकल हम अकर्मण्य बनकर परमुखापेक्षी हो गये हैं।

स्वावलम्बन उन्नति का सच्चा रहस्य है, अभ्युदय की दृढ़ भित्ति है, उत्थान का मूल है, अभिवृद्धि की अद्वितीय कुंजी है। जो मनुष्य स्वयं अपने हाथों से अपना कार्य करता है वह अवश्य ऊँचा उठता है। जो मनुष्य अन्य किसी व्यक्ति की सहायता की उपेक्षा नहीं करता, वरन् एक मात्र अपनी शक्ति एवं बल पर निर्भर होकर कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ होता है, उन्नति स्वयं परिचारिका बनकर उसका मार्ग परिष्कृत करती है। "God helps those who help themselves" के अनुसार ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं, जो निःशंक होकर भव-सागर में अपनी जीवन नौका आप खेते हैं। इसके विपरीत जो भाग्य का आश्रय ग्रहण करते हैं और स्वयं अपने हाथ-पैर नहीं हिलाते, वे ईश्वरीय सहायता से वंचित रहते हैं। ऐसे लोग कायर मन वाले तथा आलसी होते हैं जैसा कि लक्ष्मणजी ने इन पंक्तियों में कहा है—

"कादर मन कर एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥"

ऐसे लोग अपनी दशा में कुछ भी सुधार नहीं कर सकते। उन्नति का स्वप्न देखना इसके लिए व्यर्थ है। नियति ने पहले ही से इनके लिए अधःपतन का गर्त तैयार कर दिया है उन्नति तो स्वावलम्बी व्यक्ति के ही इशारे पर नाचती है। संसार में ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे वह न कर सके? संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे वह उपलब्ध न कर सके?

जब स्वावलम्बन उन्नति की योजना करता है तब उसके द्वारा सुख की योजना होना अवश्यम्भावी है। जहाँ उन्नति होगी वहाँ सुख अवश्य रहेगा। दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वावलम्बन के सहारे जब किसी कार्य में सफलता होती है तब हृदय की कली-कली खिल जाती है, हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो जाता है। यद्यपि सफलता मात्र आनन्द का आविर्भाव करती है, तथापि स्वावलम्बन-जन्य सफलता से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह पहले प्रकार के आनन्द से मात्रा में कहीं अधिक और विशेषता में कहीं भिन्न होता है। वह आनन्दानुभूति अनूठी होती है जो हृदय में उत्साह संचार करती हुई आत्म-निर्भरता की चेतना का पोषण करती है, उसे उद्दीप्त करती

है। दो विद्यार्थी को देखिए जो गणित के एक ही प्रश्न को हल करने में संलग्न हैं। पहिला किसी अन्य विद्यार्थी की सहायता से उस प्रश्न के हल करने में सफल होता है। दूसरा अकेला ही उसके हल में संलग्न होता है और बार-बार असफल होने पर भी उत्साह-भंग न होकर उसे हल करके ही छोड़ता है। उन दोनों के आनन्द में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होगा, इसमें सन्देह नहीं। स्वावलम्वी व्यक्ति को यदि कभी असफलता का भी सामना करना पड़ता है तो उसे दुःख नहीं होता, क्योंकि उसे इस बात का सन्तोष रहता है कि उसने शक्ति-भर अपना कर्त्तव्य किया और प्रयत्न तथा परिश्रम से मुख नहीं मोड़ा। यही आत्म-संतोष उसे शान्ति प्रदान करता है और उसकी वृत्तियों को संकुचित नहीं होने देता। जो स्वावलम्बन की शरण लेता है उसे जीवन की आवश्यकताएँ भी नहीं सतातीं। उसे न भोजन की समस्या सताती है और न वस्त्रों की। जो अपने पैरों पर खड़ा होगा, जो अपने हाथों से खूब काम करेगा, वह क्या कभी भूखा नंगा रह सकता है ? दुःखी तो वही रहेगा जो दूसरों का मुँह ताकेगा, जो अपने हाथ-पैर नहीं हिलायेगा।

स्वावलम्बन आत्म-संस्कार, आत्म-शुद्धि की सीढ़ी है। स्वावलम्बन की साधन से आत्मा इस प्रकार निखर जाती है जिस प्रकार अग्नि के ताप से स्वर्ण। 'Work is worship' के अनुसार परिश्रम ईश्वर की उपासना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परिश्रम और स्वावलम्बन में पारस्परिक सम्बन्ध है। स्वावलम्बन के अभाव में परिश्रम का अस्तित्व सम्भव नहीं और न परिश्रम के अभाव में स्वावलम्बन का अस्तित्व ही सम्भव है। अतः स्वावलम्बन भी ईश्वर की उपासना ठहराता है फिर इससे आत्मा का मैल क्यों न कटेगा। आत्म-निर्भरता से आत्म-दमन, अध्यवसाय, दृढ़ता, धैर्य, सन्तोष आदि उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अपना कल्याण करता है। इसके विरुद्ध अकर्मण्य बने रहकर दूसरों का मुँह ताकने से आत्मा निर्बल हो जाती है, क्योंकि ऐसा करने से आत्म-सम्मान नहीं रह जाता और अपने को तुच्छ समझने की भावना पैदा होती है।

स्वावलम्वी व्यक्ति को विश्व में गौरव मिलता है, संसार में उसकी प्रशंसा होती है। वह कठिन से कठिन कार्य सम्पादन करने में कृत-कार्य होता

है। अतः दुनिया उसका लोहा मानती है। वह अपने बाहु-बल एवं कार्यसाधना से अनुपम उन्नति कर दिखालाता है। इससे जनसमाज पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसका चारों ओर आदर होने लगता है। माता-पिता अपने बालकों को उसका अनुकरण करने की शिक्षा देते हैं। आजीवन तो वह प्रशंसा का पात्र रहता ही है, मृत्यु पश्चात् भी उसकी यश-चन्द्रिका विश्व में अपना निर्मल तथा सुशीतल प्रकाश छिटकाती रहती है।

यही नहीं कि स्वावलम्बन से मनुष्य अपना ही भला कर सकता हो, अपना ही हित-साधन कर सकता हो, वरन् वह देश और समाज की दशा भी सुधार सकता है, देश तथा समाज का मुख भी उज्ज्वल कर सकता है। पर जो मनुष्य अपना ही हित नहीं कर सकता वह समाज अथवा देश का हित क्या करेगा ? प्रत्येक देश की उन्नति का श्रेय उस देश की स्वावलम्बी आत्माओं को रहा है और सदैव रहेगा। ये आत्माएँ ही समाज की कुरीतियों का निराकरण करती हैं, धार्मिक अन्ध-विश्वासों का अन्त करती हैं, राष्ट्र की संरक्षा के साधन जुटाती हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक कौन पैदा करता है ? बड़े-बड़े सुधारक कौन उत्पन्न करता है ? बड़े-बड़े विद्वानों को कौन जन्म देता है ? बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों का जनक कौन है ? स्वावलम्बन, स्वावलम्बन, स्वावलम्बन। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं के द्वारा समाज और देश उन्नत एवं समृद्धिशाली बनते हैं। रूस, अमरीका, इंगलैण्ड आदि देश इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

विश्व का इतिहास स्वावलम्बी आत्माओं की गौरव-गाथाओं से जगमगा रहा है। नैपोलियन के नाम को कौन नहीं जानता ? कैसी निम्न स्थिति से ऊपर उठकर वह महान् विजयी हुआ। यूनान में किलेन्थिस नामक एक अत्यन्त गरीब विद्यार्थी मजदूरी करके अपना निर्वाह करता था और पाठशाला की फीस भरता था। किसी से सहायता लेना स्वीकार नहीं करता था। वह एक माली के बगीचे में पानी खींचता था और एक बुढ़िया के घर आटा पीसता था। रैमजे मैकडानल्ड भी मजदूर से इंगलैंड का प्रधान मन्त्री बन गया। हिटलर ने स्वावलम्बन के महामन्त्र से अभिमंत्रित होकर बड़ी-बड़ी शक्तियों से लोहा लिया। हमारे देश में छत्रपति शिवाजी ने अपने ही पैरों पर खड़े होकर मुगल-सम्राट्

औरङ्गजेव को नाक चने विनवा दिए। महात्मा गाँधी को देखिए। आत्म-निर्भरता के प्रवल प्रताप से उन्होंने विश्व को हिला दिया। स्वावलम्बन की शक्ति से अद्वितीय उन्नति करके उन्होंने सारे संसार को चकित कर दिया। अखिल विश्व की आंखें उनकी ओर लगी रहीं।

सारांश यह है कि स्वावलम्बन एक महत्वपूर्ण गुण है। वह वल, गौरव, समृद्धि, सुख, शान्ति, आत्मोत्थान आदि के भवन का प्रवेशद्वार है। हम लोगों में इस दिव्य गुण का अभाव है। हम अपने आप पैरों पर नहीं खड़े होते, हम अपने आप अपनी सहायता नहीं करते। हमें सदैव दूसरों की सहायता प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। हमारे विद्यार्थी-गण पुस्तकों के अध्ययन में स्वयं अपनी शक्तियों का उपयोग न करके इधर-उधर नोटों (notes) और सहायक पुस्तकों का आश्रय ग्रहण करते हैं। हमारे नवयुवकों में अपने हाथ-पैरों से जीविका उपार्जन करने की भावना नहीं होती। वे अपनी जीवन-यात्रा के लिये माता-पिता से सम्पत्ति की आशा रखते हैं। हमें अकर्मण्य और आलसी बने रहकर जीवन व्यतीत करना रुचता है। संसार के मध्य अपना मार्ग आप निकालने की प्रवृत्ति हम में नहीं है। हमारा न कोई व्यक्तित्व है और न कोई उपादेयता। हमारी वर्त्तमान दुर्गति इसी का परिणाम है। यही कारण है कि हम दरिद्र हैं। न हममें वल है और न हममें शक्ति। क्या हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम अब भी चेतें और अकर्मण्यता तथा दैवाधीनता का परित्याग करके स्वावलम्बन का महामंत्र जपें, जिससे हमारा देश बल, विद्या और धन से सम्पन्न हो।

शारीरिक उन्नति के साधन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—शारीरिक उन्नति की आवश्यकता
(२) शारीरिक उन्नति के साधन—
  (क) संयम
  (ख) व्यायाम
  (ग) स्वच्छता

(घ) पवित्र जल-वायु का सेवन
(ङ) सूर्य का प्रकाश
(च) सादा और शक्ति-वर्द्धक भोजन
(३) उपसंहार—निष्कर्ष

मानव-शरीर को गोस्वामीजी ने अत्यन्त महत्व दिया है। वे इसकी प्राप्ति बड़ी कठिन बतलाते हैं और इसे मोक्ष का साधन समझते हैं जैसा कि उनके 'रामचरित-मानस' नामक प्रबन्ध-काव्य की इन पंक्तियों से प्रकट है—

"बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जे परलोक सँवारा॥"
सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥"

निस्संदेह यदि मानव शरीरं उन्नति करे तो वह उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त में परम पद का अधिकारी हो सकता है। शरीर की उन्नति से सांसारिक जीवन भी आनन्दमय बनाया जा सकता है। समाज सेवा के लिए, देशोद्धार के लिए, शारीरिक उन्नति आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। जिस व्यक्ति का शरीर निर्बल होगा, जिस व्यक्ति का शरीर रुग्ण होगा, वह समाज की क्या सेवा करेगा, वह देश का क्या उद्धार करेगा ? शरीर और मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध है। "A sound mind in a sound body" के अनुसार शरीर की स्वस्थता पर मस्तिष्क की स्वस्थता निर्भर है। जब शरीर की उन्नति होगी तब मस्तिष्क भी ठीक रहेगा, उसकी भी शक्तियाँ बढ़ेंगी। अतः शरीर की उन्नति परमावश्यक है। इसकी किसी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती।

शारीरिक उन्नति के कई साधन हैं। सबसे प्रधान साधन संयम है। खेद की बात है कि बहुत कम मनुष्य यह समझते हैं कि शरीर की उन्नति के लिए संयम भी कोई आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवन में संयम का नितान्त अभाव देखा जाता है। कभी हम ५ बजे प्रातःकाल सोकर उठते हैं तो कभी ७ बजे। कभी हम १० बजे भोजन करते हैं तो कभी १२ बजे। कभी हम सायंकाल ५ बजे शौच को जाते हैं तो कभी ८ बजे। कभी हम रात को ९ बजे निद्रादेवी

की शीतल गोद में विश्राम करते हैं तो कभी १२ बजे। इस प्रकार का अनियमित हमारा जीवन है। इससे शरीर-रक्षा नहीं हो सकती। शरीर में तरह-तरह के रोग हो जाते हैं जिन्हें हम आकस्मिक आपत्तियाँ समझते हैं, अपने किये का फल नहीं। जो लोग संयमित जीवन व्यतीत करते हैं, खान-पान, आहार-विहार, में संयम रखते हैं, उनका शरीर नीरोग रहता है। अँग्रेजों को देखिए। उनका जीवन कितना संयमित होता है। वे प्रत्येक कार्य को निश्चित समय पर करते हैं। क्या मजाल है जो कभी समय की पाबन्दी का उल्लंघन हो जाय।

जहाँ शारीरिक उन्नति के लिए संयम की आवश्यकता है वहाँ व्यायाम की भी कम महत्ता नहीं। व्यायाम द्वारा हम अपने शरीर की शक्ति को केवल सुरक्षित ही नहीं रख सकते बल्कि बढ़ा भी सकते हैं। व्यायाम से हमारा जीवन सुखी हो सकता है, क्योंकि इससे पाचन-कार्य ठीक-ठीक होता है और पाचन-कार्य की सुचारुता से शरीर स्फूर्ति-युक्त तथा पुष्ट होता है और चित्त प्रसन्न रहता है। व्यायाम का अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप हो सकता है। किसी को पर्यटन रुचेगा तो किसी को गेंद खेलना। किसी को जल में तैरना अच्छा लगेगा तो किसी को घोड़े की सवारी। किसी को पेड़-पौधों का सींचना प्रिय होगा तो किसी को उछलना-कूदना। किसी को दौड़ना अच्छा लगेगा तो किसी को दंड-बैठक। पर यह बात ध्यान में रहे कि व्यायाम शक्ति से अधिक न किया जाय। वृद्ध मनुष्यों के लिए दौड़ना अच्छा व्यायाम नहीं क्योंकि उसके लिए अधिक शारीरिक शक्ति अपेक्षित है। उनके लिए तो पर्यटन ही सर्वोत्तम व्यायाम रहेगा।

जो लोग व्यायाम नहीं करते उन्हें सदैव रोग घेरे रहते हैं। कभी उन पर मलेरिया ज्वर का आक्रमण होता है तो कभी हैजे का। कभी उन्हें जुकाम से पीड़ित होना पड़ता है तो कभी सिर दर्द से। यही नहीं कि रोग उन्हीं तक सीमित रहते हों। उनकी संतान को भी उनका प्रसाद मिलता है। जो माता-पिता तपैदिक से पीड़ित होते हैं, उनकी संतान भी इस रोग से अवश्य पीड़ित

होगी। यद्यपि कुछ रोग अपने नग्न रूप में संतान में नहीं प्रकट होते तो भी संतान उनके कुप्रभाव से वंचित नहीं रह सकती। वस्तुतः शरीर को अस्वस्थ रखना पाप है। रुग्ण शरीर से बड़ा अनर्थ होता है। रोगी अपना ही नहीं, अपने परिवार एवं समाज का अनिष्ट करता है। जब शरीर अस्वस्थ रहता है तब चित्त भी ठिकाने नहीं रहता। प्रौढ़ बुद्धि और गंभीर चिंतन के लिए पुष्ट शरीर की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार मशीन तभी ठीक ढंग से कार्य करती है जब उसके पुरजों में कोई दोष न हो। उसी प्रकार मस्तिष्क तभी ठीक कार्य करता है जब शरीर में कोई खराबी न हो।

शारीरिक उन्नति के लिए स्वच्छता भी वांछनीय है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह स्नान द्वारा शरीर को स्वच्छ रक्खे। शरीर के भीतर से जो गन्दगी बाहर निकलती रहती है उसे दूर करने के लिए स्नान के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं। शरीर को सफाई के अतिरिक्त वस्त्रों की स्वच्छता भी परमावश्यक है। मैले-कुचैले वस्त्र देखने में तो भद्दे लगते ही हैं, स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक होते हैं। शरीर और वस्त्रों की गंदगी से तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग-कीटाणु गन्दे स्थान में अपना घर बना लेते हैं। प्रायः देखा जाता है कि शारीरिक स्वच्छता न रखने वाले व्यक्ति दाद, खुजली, छाजन आदि चर्म रोगों से पीड़ित रहते हैं। जिस प्रकार शरीर और वस्त्रों की सफाई आवश्यक है उसी प्रकार निवास-स्थान की सफाई भी अत्यावश्यक है। जिस गृह में हम निवास करते हों वह गन्दा न हो, उसमें मल-मूत्र कूड़ा-करकट, कीचड़ आदि जमा न रहता हो, उसमें दुर्गन्ध न आती हो।

शरीर की उन्नति के लिए पवित्र जलवायु का सेवन भी परमावश्यक है। शुद्ध जलवायु की उपयोगिता व्यायाम से अधिक है। जिस व्यक्ति को शुद्ध जल और शुद्ध वायु भी नहीं मिल सकती वह यदि नित्य व्यायाम करे तो भी अपने स्वास्थ्य को ठीक नहीं रख सकता। वायु भोजन से भी अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। प्राणी भोजन के अभाव में कुछ समय तक जीवित रह सकता है, किन्तु वायु के अभाव में उसका क्षण भर का जीवन भी असम्भव है। अतः हमें जलवायु की पवित्रता का अधिक ध्यान रखना चाहिए। जो कार्य बहुमूल्य औषधि नहीं कर सकती वह कार्य शुद्ध जलवायु से सम्पन्न हो जाता है।

सूर्य का प्रकाश भी शारीरिक उन्नति का एक साधन है। सूर्य की किरणें प्राणी-मात्र में जीवन संचार करती हैं। उनसे जीवधारियों में नवीन शक्ति, नवीन आभा, नवीन रंग-रूप आता है। एक ऐसे पौधे को देखिए जिसे सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता हो। उसे पीला और आभाहीन पाइएगा। उसमें न हरा-भरापन मिलेगा और न जीवन स्फूर्ति। अतः शारीरिक उत्थान शारीरिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसे सूर्य का पर्याप्त प्रकाश मिले। प्राचीन काल में हमारे यहाँ शरीर को खुला रखने की प्रथा थी पर विदेशी सभ्यता के दूषित प्रभाव ने उसे विदा कर दिया।

शारीरिक उन्नति और अवनति में भोजन का कम हाथ नहीं रहता। उस पर भी स्वास्थ्य का बहुत कुछ उत्तरदायित्व है। शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए सादा और शक्तिवर्द्धक भोजन करना चाहिए। जिह्वा को रुचिकर नाना भाँति के पकवान और मिठाइयाँ शरीर की शक्ति का ह्रास करती हैं। मनुष्य के भोजन में फल, दूध, रोटी, दाल, चावल आदि को ही स्थान मिलना चाहिए। भोजन के परिणाम की बात भी विचारणीय है। हम इस संसार में भोजन करने के लिए ही नहीं रहते हैं, बल्कि इसलिये भोजन करते हैं कि हम जीवित रह सकें। कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर-रक्षा के लिए भोजन किया जाय। जितना भोजन शरीर-रक्षा के लिए पर्याप्त हो उससे अधिक कदापि न किया जाय। स्वाद के चक्कर में कुछ लोग बहुत खा जाते हैं जिसका परिणाम अजीर्ण और अल्पायु होता है।

निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त साधनों द्वारा शारीरिक उन्नति की योजना की जा सकती है। जो व्यक्ति उनका पालन करेगा उसका शरीर स्वस्थ्य और पुष्ट होगा। वह चिरायु होगा। उसका मस्तिष्क प्रबल होगा। उसका जीवन सुखी एवं शान्तिपूर्ण रहेगा।

मनोरंजन के आधुनिक साधन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—मनोरंजन की आवश्यकता
(२) समय के साथ-साथ मनोरंजन के साधनों में परिवर्तन

(३) रेडियो (४) सिनेमा (५) सरकस कार्नीवॉल
(६) शतरंज, ताश आदि घर के भीतर खेले जाने वाले खेल (Indoor games)
(७) क्रिकेट, हॉकी आदि मैदान के खेल (Outdoor games)
(८) उपन्यास, कहानी और कविता (९) मेले, तमाशे आदि
(१०) पार्क, उद्यानादि की सैर
(११) उपसंहार—सारांश

मानव-जीवन के दो पहलू हैं और हमारी आवश्कताएं भी दो प्रकार की होती हैं—एक शारीरिक अथवा वाह्य जीवन की, और दूसरी मानसिक अथवा आन्तरिक जीवन की। जब हमारे बाह्य जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, जब हम दिन भर के परिश्रम से उकता जाते हैं, तब हमारे मन को भूख लगती है तब हम मनोरंजन के साधन ढूंढ़ते हैं। हममें से कोई शतरंज से मन बहलाता है तो कोई ताशों से। कोई क्रिकेट खेलता है तो कोई टैनिस। कोई हरमोनियम पर राग अलापता है तो कोई ग्रामोफोन सुनता है। कोई सिनेमा हॉल की ओर पदार्पण करता है तो कोई रेडियो से अपना मनोरंजन करता है। कोई नृत्य से मन की भूख मिटाता है तो कोई प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर। कोई पशु-पक्षियों से खेलता है तो कोई आराम-कुर्सी पर लेटकर उपन्यास, कहानी पढ़कर दिल वहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी,—सभी जीवधारी कुछ-न-कुछ समय मनोरंजन के लिए अवश्य देते हैं।

समय के साथ-साथ जैसे हमारी रुचि में परिवर्तन होता गया है वैसे ही हमारे मनोरंजन के साधन भी बदलते गये हैं। एक समय था जब कठपुतली का नाच हमारा मनोरंजन करता था पर आज नहीं करता। एक समय था जब नाटक हमारे मन को खूब बहलाते थे पर आज उतना नहीं बहलाते। एक समय था जब बाजीगर का खेल हमें बहुत प्यारा लगता था पर आज उतना प्यारा नहीं लगता। आज से सौ वर्ष पूर्व जो मनोरंजन के साधन थे वे प्रायः अब नहीं रह गये हैं। विज्ञान ने इस क्षेत्र में उलट-पुलट करदी है। रेडियो और सिनेमा का, जो आधुनिक काल के मनोविनोद के प्रधान साधन बने हुए हैं, प्राचीन काल में कोई नाम भी नहीं जानता था।

रेडियो एक यन्त्र है जिसके द्वारा कितनी ही दूर की ध्वनि सुनी जा सकती है। इसका उपयोग समाचार और संगीत प्रसारित करने के लिए किया जाता है। किसी बड़े नगर में रेडियो का स्टेशन होता है जहाँ से समाचार अथवा संगीत भेजा जाता है। इस यन्त्र द्वारा संसार के अच्छे-से-अच्छे गायक का गाना घर बैठे सुना जा सकता है। इसके अभाव में अच्छे-अच्छे गायकों का गाना सुनने के लिए लोगों को इधर-उधर जाना पड़ता था, पर अब वे अपनी गायन-क्षुधा की निवृत्ति घर पर ही कर सकते हैं। रेडियो वाले के लिए मानो संसार के विख्यात गवैये उसके द्वार पर खड़े रहते हैं। परन्तु यह मनोरंजन का साधन केवल धनिकों को उपलब्ध है। दरिद्र इसके आनन्द से वंचित रहते हैं। उन बेचारों के पास इतना धन कहाँ कि रेडियो खरीदकर उससे अपना मनोविनोद कर सकें। हाँ, यदि किसी लक्ष्मी के लाल की कोठी में रेडियो बज रहा हो तो बाहर खड़े होकर उन्हें भले ही आनन्द मिल जाय। रेडियो के अतिरिक्त ग्रामोफोन, हारमोनियम, बांसुरी आदि वाद्य-यन्त्र भी आमोद-प्रमोद के साधन हैं।

रेडियो से भी बढ़कर मनोरंजन का साधन टेलीविजन है जो विज्ञान का नवीनतम आविष्कार है। रेडियो हमारी कर्णेन्द्रिय को ही तृप्त करता है, टेलीविजन नेत्रेन्द्रिय को भी तृप्त कर सकेगा। इसके द्वारा नेत्रों को सुन्दर से सुन्दर दृश्य, मनोहर से मनोहर रूप, भव्य से भव्य नृत्य, अभिराम से अभिराम छटा देखने को मिलेगी और धनवानों के लिए घर पर ही सिनेमा के आनन्द की योजना हो जायगी। पर दिन भर की थकान मिटाने के लिए सिनेमा से सुलभ और सस्ता मनोरंजन का साधन कोई नहीं है। गरीब जन-समाज के लिए सिनेमा विज्ञान की अमूल्य भेंट है। इसमें पुरुष-स्त्रियों के चलते-फिरते चित्रों द्वारा कोई कहानी दर्शकों को दिखलाई जाती है। नाटक से इसमें यह भिन्नता है कि इसमें अभिनेता-अभिनेत्रियों के चित्र रहते हैं और नाटक में साक्षात् अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ रहती हैं। पहले सिनेमा में मूक चित्र होते थे। अब यह कमी दूर हो गई है और चित्रों में वाणी का संचार हो गया है। यही नहीं, अब तो रंगीन चित्र भी बनने लग गये हैं। प्राकृतिक दृश्यों के वास्तविक रंग अब चित्रपट पर देखे जाने लगे हैं। बसन्त की बहार, उषा

की लालिमा, पुष्पों की रंग-बिरंगी छटा और अभिनेत्रियों के शरीर का गुलावी रंग देखकर दर्शक मन्त्र-मुग्ध हो जाता है। वस्तुतः दृश्य-विधान और संगीत सिनेमा के प्राण हैं। जब दर्शक प्रकृति के सुन्दर दृश्य के बीच किसी अभिनेत्री अथवा अभिनेता को गाते हुए देखता है तो उसके हृदय की कली-कली खिल जाती है। क्षण भर के लिये वह अपने को भूल जाता है। निस्सन्देह आधुनिक काल में सिनेमा मनोरंजन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। बलिहारी है विज्ञान की जिसने जन-साधारण के लिए सिनेमा जैसा सुलभ साधन प्रस्तुत किया।

सरकस और कार्नीवाल भी सर्व-साधारण का मनोरंजन करते हैं। विचित्र और रोचक बातों को देखकर दर्शक का मन प्रसन्न होता है। मोटर-साइकिल का गोले में दौड़ना, बन्दर का साइकिल चलाना, तार पर साइकिल चलाना, भागते हुए घोड़े पर शीर्षासन लगाना, सिंह और बकरे का एक साथ पानी पीना आदि मनोविनोद की सामग्री जुटाते हैं। इसके साथ-साथ लॉटरी मिलने की अभिलाषा तथा मिलने पर प्राप्त आनन्द मनोरंजन को दुगुना कर देते हैं। यह मानव-स्वभाव की विशेषता है कि आश्चर्यजनक वस्तुएँ उसे आनन्द देती हैं। जब हम बाजीगर के चकित करने वाले खेलों को देखते हैं तब खेल के स्थान को छोड़ने की हमारी इच्छा नहीं होती। हमारा मन वहीं रम जाता है। इसी प्रकार सरकस और कार्नीवाल हमें अचम्भित करके प्रसन्न करते हैं।

शतरञ्ज, ताश, चौपड़ आदि घर के भीतर खेले जाने वाले खेल (Indoor games) भी आजकल मन-बहलाव के अच्छे साधन हैं। यह देखा गया है कि शतरञ्ज के खिलाड़ी खेल में इतने मस्त हो जाते हैं कि भोजन, निद्रा और काम-काज को भी भूल जाते हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने अपनी "शतरंज के खिलाड़ी" शीर्षक कहानी में बतलाया है कि शतरञ्ज के खेल में मस्त होकर दो व्यक्तियों ने सब भुला दिया और बातों-बातों में ही झगड़कर एक-दूसरे के प्राण ले लिये। ताश और चौपड़ भी अच्छे खेल हैं, पर यह शतरञ्ज की समानता नहीं कर सकते। यदि शतरञ्ज रानी है तो ताश और चौपड़ उसके दास और दासी हैं। बैडमिंटन, पिंगपोंग आदि अँग्रेजी खेल भी बड़े रोचक होते हैं।

क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल, वौलीबॉल, टेनिस इत्यादि मैदान के खेल (Outdoor games) भी मनोरंजन करते हैं और कॉलेज के विद्यार्थियों को प्राय: ये ही खेल खिलाये जाते हैं। विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार अपने व्यायाम तथा मनोरंजन के लिये इन्हीं में से कोई-सा चुन लेता है। खेलने वालों को तो ये खेल आनन्द देते हैं दर्शकों का भी इससे मनोविनोद होता है। जब कभी मैच होता है तब सैकड़ों दर्शक उसे देखने के लिए एकत्रित हो जाते हैं। बीच-बीच में वे अपने हर्ष को करतल-ध्वनि द्वारा प्रकट करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि मनोरंजन के अन्य साधनों से यह खेल इसलिये अच्छे कहे जा सकते हैं कि इनसे दो कार्य सिद्ध होते हैं—शारीरिक व्यायाम भी होता है और मनोविनोद भी।

उपन्यास और कहानी, साहित्य के ये अङ्ग भी मनोरंजन की सामग्री जुटाते हैं। आजकल इनकी बहुत भरमार देखी जाती है। प्रति मास अनेकों नए-नए उपन्यास निकलते हैं और हाथों-हाथ बिक जाते हैं। यही दशा कहानियों की है। भारतवर्ष में मनुष्य को बचपन से ही कहानी के प्रति प्रेम हो जाता है। बालक को उसकी माता, दादी, नानी आदि स्त्रियाँ कहानी सुनाया करती हैं। यही प्रेम बड़े होने पर बना रहता है। मनुष्य समाचार-पत्रों, मासिक पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में कहानियाँ पढ़कर अपने इस प्रेम को तृप्त करता है। आजकल पत्र-पत्रिकाएँ कहानियों से बे-तरह भरी रहती हैं। कविता से भी मनोरंजन होता है। आजकल कवि-सम्मेलनों की खूब धूम रहती है।

मेले और तमाशे भी मनोरंजन के अच्छे साधन हैं। कहीं भी छोटे से छोटा मेला होगा अनेक दर्शक उसे देखने पहुँच जायेंगे। क्यों? इसलिए कि नई-नई वस्तुएँ देखने को मिलेंगी जिससे मन बहलेगा। जादूगर, रीछ, बन्दर, नट आदि के तमाशे जन-साधारण को पर्याप्त आमोद-प्रमोद देते हैं। पशु-पक्षियों का संग्रह भी मन को प्रसन्न करता है।

पार्क, उद्यानादि की प्राकृतिक छटा से भी हमारा मनोरंजन होता है। जब हम रंग-विरंगे पुष्पों को देखते हैं, जब हम मलमल सी मुलायम हरी-भरी दूब पर मोती सी झलकती हुई ओस की बूँदें देखते हैं, जब हम कुञ्जों में

चहचहाती हुई चिड़ियों का मधुर स्वर सुनते हैं, जब हम शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन द्वारा आन्दोलित लताओं की वृक्षों के साथ अठखेलियाँ देखते हैं तो हम आनन्द-सागर में निमग्न हो जाते हैं।

सारांश यह है कि आधुनिक काल में हमें मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध हैं और विज्ञान इन साधनों में निरन्तर वृद्धि करता जा रहा है। मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति अनुसार उनमें से कुछ चुन लेते हैं, जिनसे उनके जीवन में मिठास आ जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पास कोई मनोरञ्जनकारी वस्तु अथवा सामग्री न हो तो उसका जीवन भार स्वरूप हो जाय, उसका जीवन कटु हो जाय—इसमें सन्देह नहीं। मनोरंजन के साधन जीवन-यात्रा के लिए सम्बल-स्वरूप हैं।

स्त्री-शिक्षा का स्वरूप

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता
(२) पाश्चात्य अनुकरण पर हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था—
    (क) सह-शिक्षा का प्रसार और उससे हानि
    (ख) पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा की एकरूपता और उससे हानि
(३) स्त्री-शिक्षा का स्वरूप
    (क) वह गृहोचित हो—
    (ख) उनमें साहित्य, संगीत, चित्र आदि ललित-कलाओं को स्थान मिले
    (ग) उसका माध्यम मातृभाषा हो
    (घ) वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उत्थान करती हो
(४) भारत में स्त्री-शिक्षा की कमी और उसके दुष्परिणाम

पुरुष-जाति के साथ-साथ स्त्री-जाति को शिक्षित बनाना किस देश अथवा जाति के लिये आवश्यक न होगा? स्त्री माता-रूप में हमारी गुरु और पत्नी-रूप में हमारी परामर्शदात्री है। इसलिये उसका शिक्षित होना नितान्त वांछनीय है, क्योंकि शिक्षा के बिना मस्तिष्क का विकास और ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। मस्तिष्क के विकास और ज्ञान-भण्डार के बिना गुरु के अथवा

परामर्श देने के कार्य में सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती। पत्नी के अशिक्षित होने पर पति की शक्ति आधी रह जाती है और गृहस्थी का कार्य भी सुचारु रूप से नहीं चल सकता।

हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की वर्त्तमान व्यवस्था पाश्चात्य अनुकरण पर हुई है। पाश्चात्य सभ्यता के झोकों से आज भी हमारा देश भली-भाँति प्रभावित हो रहा है। शिक्षित-समाज इसी सभ्यता-देवी की आराधना में संलग्न है। न जाने किसने यह जादू डाल रक्खा है कि शिक्षित भारतीय इसी को सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श मानते हैं और इसी का अनुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। यह पाश्चात्य सभ्यता का ही प्रसाद है कि स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में सह-शिक्षा का प्रचार हो रहा है, लड़के और लड़कियों के लिए एक ही शिक्षालयों का प्रबन्ध हो रहा है। पर क्या इससे भारतीय नीति और मर्यादा की रक्षा हो सकेगी ? युवकों और युवतियों को एक साथ रहकर एक ही विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हुये अपनी रक्षा करना दुर्लभ है, पतन अवश्यम्भावी है। फिर क्या आवश्यक है कि हम ऐसा वातावरण पैदा करें, ऐसी व्यवस्था बनावें, जिससे हमारे नवयुवक और नवयुवितयाँ अपना नैतिक पतन कर बैठें ? पाश्चात्य देशों के शिक्षा-केन्द्रों में व्यभिचार का बाजार गर्म है। पर वहाँ वाले उसे व्यभिचार नहीं समझते। अविवाहित स्त्री का अविवाहित पुरुष के साथ सम्बन्ध वहाँ की नैतिक दृष्टि से बुरा नहीं है। परन्तु हमारे यहाँ इस प्रकार का सम्बन्ध अक्षम्य है।

पाश्चात्य अनुकरण पर ही भारतवर्ष में पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा एकरूप है। लड़कों और लड़कियों को प्रायः समान विषयों का अध्ययन कराया जाता है। यह व्यवस्था दूषित है। स्त्री और पुरुष का कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। स्त्री का क्षेत्र गृह है और पुरुष का संसार। गृह के सभी कार्य—गृहस्थी का संचालन, संतान का पालन-पोषण, भोजन तैयार करना, तीमारदारी (रोगी की परिचर्या) सिलाई, बुनाई, कशीदाकारी, संगीत, नृत्यादि द्वारा मनोरंजन इत्यादि स्त्रियों के हैं। पुरुष के कार्य जीविकोपार्जन, संतान-शिक्षा, देश तथा समाज-सेवा आदि हैं। अतः स्त्री-शिक्षा पुरुष-शिक्षा से भिन्न होनी चाहिए।

स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा मिले जो उनके कार्यों में सहायक हो सके। काँग्रेस-नेता श्रीयुत भूलाभाई देसाई ने एक वार कहा था—

"लड़कियों के लिए अलग शिक्षालयों की इसीलिये आवश्यकता नहीं कि वे लड़कों का मुक़ाविला नहीं कर सकतीं, वरन् इसलिये कि लड़की लड़के से भिन्न है। प्रकृति उसे लड़के से भिन्न रखना चाहती है और इस कारण उसके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों की सर्वोत्तम संस्कृति और पूर्णतम विकास के लिए उसे विभिन्न परिस्थिति में रखना आवश्यक है। लड़कियों के लिए संगीत, वुनाई, गृह-प्रवन्ध, शिशु-मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र प्रभृति जिन विषयों के पढ़ाने की आवश्यकता है उनका समुचित प्रवन्ध लड़कों के शिक्षालयों में नहीं हो सकता।"

शायद पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी इस विचार से सहमत न हों। इस सम्वन्ध में हमें यही कहना है कि मनुष्य-समाज का कल्याण स्त्री को गृह-स्वामिनी बनाने में ही है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि गृह-कार्यों के अतिरिक्त स्त्रियाँ अन्य कोई कार्य न करें। वे अवकाशानुसार पुरुषों के कार्यों में हाथ वँटा सकती हैं, घर के काम-काज से छुट्टी पाते ही देश तथा समाज के कार्यों में भाग ले सकती हैं। पर उनका प्रधान-क्षेत्र गृह ही है। अतः गृह को ही केन्द्र मानकर स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा का विधान होना चाहिए। उर्दू-कवि अकवर इलाहावादी का कथन है—

"तालीम लड़कियों की भी लाजिम तो है मगर।
खातून खाना हो, वह सभा की परी न हों॥"

स्त्री-शिक्षा में गृह-व्यवस्था, पाक-शास्त्र, स्वास्थ्य-विज्ञान, रुग्ण-परिचर्य्या, तात्कालिक चिकित्सा, सिलाई, वुनाई, शिशु-मनोविज्ञान आदि गृहस्थी के काम-काज-सम्वन्धी विषयों को प्रधानता मिलनी चाहिए। खेद की बात है कि इन विषयों की शिक्षा प्रदान करने वाला शिक्षालय हमारे देश में एकाध ही होगा। सुना है दिल्ली का लेडी इरविन कॉलेज और पूना का कर्वे महिला विद्यालय दोनों गृहोचित शिक्षा-प्रदान में स्तुत्य-कार्य कर रहे हैं।

स्त्री-शिक्षा में साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्र आदि ललित-कलाओं को भी स्थान मिलना चाहिए। ये विषय यद्यपि स्त्री के कार्य-क्षेत्र में किसी प्रकार

सहायक नहीं हैं तथापि मनोविनोदार्थ इनकी आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। मानव-जीवन की आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं। एक बाह्य-जीवन की और दूसरी मानसिक अथवा आन्तरिक जीवन की। मनोरंजन-सम्बन्धी आवश्यकता दूसरे प्रकार की है। छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी – सभी जीवधारियों को मनोरंजन की आवश्यकता होती है। दिन-भर की थकान दूर करने के लिए मनोरंजन के अतिरिक्त अन्य कोई मानसिक भोजन नहीं है।

स्त्री-शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। किसी भी देश के लिए शिक्षा का माध्यम विदेशी होना अत्यन्त हानिकर है। उससे देश की सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात होता है। ज्ञानोपार्जन और ज्ञान-प्रसार में भी पर्याप्त रुकावट होती है। यदि हम अपने देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करना चाहते हैं तो हमें क्या पुरुष-शिक्षा, क्या स्त्री-शिक्षा—दोनों का माध्यम मातृभाषा को बनाना चाहिए।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उत्थान है। अतः स्त्री-शिक्षा में इन तीनों शक्तियों के विकास की व्यवस्था होनी चाहिए। लड़कियों के लिए व्यायाम का प्रबन्ध हो जिससे उनके शरीर नीरोग रहें और उनका भली-भाँति विकास हो। जैसे—घूमना, तैरना, नृत्य, बैडमिंटन, टैनिस आदि खेल। आत्मिक उत्थान के लिए चारित्रिक शिक्षा की आवश्यकता है। प्रचलित स्त्री-शिक्षा में न शरीर की ओर ध्यान दिया जाता है और न आत्मा की ओर। शिक्षित नवयुवतियाँ प्रायः अपव्ययी, फैशन की दासी और विलास प्रिय होती हैं। न उनमें शारीरिक गठन देखा जाता है और न चरित्र का भव्य स्वरूप।

सारांश यह है कि स्त्री-शिक्षा का उपर्युक्त रूप देश के लिए कल्याणकर होगा। हमारे यहाँ स्त्री-शिक्षा की बहुत कमी है। विश्व में शायद ही कोई देश हो जहाँ भारतवर्ष के समान स्त्री-शिक्षा की न्यूनता हो; जहाँ अधिकांश पुरुष-समाज ही निरक्षरता की महाव्याधि से पीड़ित है वहाँ भला स्त्रियों का क्या कहना? अशिक्षा दानवी की कृपा से स्त्री-जाति में कुरीतियाँ, अन्ध-विश्वास, भय, पर्दा, आभूषण-प्रियता, गन्दगी आदि का समावेश हो चुका है। जितना शीघ्र अशिक्षा का मुँह काला हो उतना ही अच्छा।

वेसिक शिक्षा और उसका भविष्य

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना —वर्तमान शिक्षा-पद्धति से असन्तोष
(२) वेसिक शिक्षा का आविर्भाव
(३) वेसिक शिक्षा की प्रधान विशेषताएं
(४) वेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम की कुछ उल्लेखनीय वातें
(५) वेसिक शिक्षा का भविष्य
(६) उपसंहार—वेकारी एवं ग्रामीण अशिक्षा का निराकरण

वर्तमान काल में हमारे देश में जिन अनेक वातों से असन्तोष फैला हुआ है उनमें एक शिक्षा-पद्धति भी है। आजकल हमारी शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध देश के कौने-कौने में आवाज उठाई जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि इससे समाज को कितनी हानि हुई है, इससे देश कितना अधोगति को प्राप्त हुआ है। शिक्षित वेकारों की भीषण समस्या का उत्तरदायित्व भी इसी पर है। इसने भारतीय समाज के कलेवर को खोखला कर दिया है। इसके कारण हमारा जीवन कटु तथा नीरस हो गया है और हम मानसिक दासता के अंधकार में पड़े हुए हैं।

विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी की दृष्टि इस कलुषित शिक्षा पर वहुत दिनों से पड़ रही थी, किन्तु वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। काँग्रेस-मण्डलों की स्थापना हो जाने पर महात्माजी ने अपने शिक्षा-सुधार-सम्वन्धी विचारों को "हरिजन" नामक पत्र द्वारा जन-साधारण के सम्मुख उपस्थित करना आरम्भ किया। उनका ध्यान विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा की ओर गया और उन्होंने अपने कर-कमलों से एक शिक्षा-योजना का सूत्रपात किया जिसे 'वर्धा-शिक्षा-योजना' कहते हैं। युक्त-प्रान्तीय सरकार ने इस शिक्षा-योजना में प्रान्तीय आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा-वहुत उलट-फेर करके उसे अपने प्रान्त के लिए स्वीकार किया और उसे 'वेसिक-शिक्षा' के नाम से विभूषित किया। वेसिक-शिक्षा की प्रधान विशेषताएं ये हैं:—

१—६ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक प्रत्येक वालक-वालिका के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा का विधान किया गया है। वेसिक स्कूल में वाल-कक्षा से लेकर कक्षा ७ तक कुल आठ कक्षाएं होंगी।

२—शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी रक्खा गया है।

३—शिक्षा में घरेलू उद्योग-धंधों को स्थान दिया गया है।

४—उद्योग अथवा बालक के घरेलू या सामाजिक वातावरण द्वारा शिक्षा-प्रदान की व्यवस्था की गई है। अर्थात् विभिन्न विषयों के ज्ञान का आधार बच्चे का दैनिक जीवन अथवा उद्योग रक्खा गया है। इसे समन्वय, अनुबन्ध या समवाय (Correlation) का सिद्धान्त कहते हैं।

५—ग्रामीण और नागरिक शिक्षा का विभेद हटाकर उन्हें एक रूप बना दिया गया है।

घरेलू उद्योग-धन्धों का ग्रहण बेसिक शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सच पूछिए तो नवीन शिक्षा-रूपी काया का मेरुदंड ही उद्योग को माना गया है। वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्री प्रारम्भिक शिक्षा में उद्योगों को सर्वोच्च स्थान देते हैं। उनकी धारणा है कि बालकों के शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक विकास के लिए उसका बड़ा महत्व है। यह तो हुआ उद्योगों का शिक्षा-सम्बन्धी महत्व। अब जीविका-सम्बन्धी महत्व लीजिए। विभिन्न उद्योग-धन्धों को सीखकर बालक बड़ा होने पर उन्हें जीविकोपार्जन का साधन बना सकता है।

उद्योग-धन्धों के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयों का उनके अनुबन्ध द्वारा पढ़ाना बेसिक शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता है। अनुबन्ध किसे कहते हैं? अनुबन्ध का शाब्दिक अर्थ है—'बन्धन' या 'सम्बन्ध'। बेसिक-शिक्षा में इसका यह अर्थ है कि बालक-बालिकाओं को उन उद्योग-धन्धों द्वारा गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा आदि मानसिक विषयों का ज्ञान कराया जाय जिन्हें वे नित्य-प्रति स्कूल में सीखते हैं। ऐसा करने की क्या आवश्यकता है? क्या इन उद्योगों को तथा गणित, भाषा आदि मानसिक विषयों को पृथक्-पृथक् नहीं पढ़ा सकते? एक को दूसरे से सम्बन्धित करने की क्या आवश्यकता है? बाल मनोविज्ञान हमें बताता है कि बालक स्वभावतः ऐसे कार्य को पसन्द करता है जिसमें उसके हाथों का उपयोग हो और ऐसे कार्य से दूर भागता है जिसमें केवल मस्तिष्क का उपयोग हो, हाथों का नहीं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बालक उद्योगों में रुचि रखता है और मानसिक विषयों में अरुचि।

परन्तु उसके समुचित एवं पूर्ण विकास के लिए मानसिक विषयों की नितान्त आवश्यकता है। ऐसी दशा में हम अनुबन्ध द्वारा ही मानसिक विषयों को रुचिकर रूप प्रदान करके बालक को ज्ञान करा सकते हैं। अनुबन्ध-पद्धति द्वारा शिक्षा-प्रदान में जहाँ बालक रोचकता का अनुभव करेगा, वहाँ वह जो कुछ सीखेगा उसे भली-भाँति समझ भी जायगा।

बेसिक-शिक्षा के पाठ्य-क्रम में अँग्रेजी को कोई स्थान नहीं मिला है। अँग्रेजी एक विदेशी एवं विजातीय भाषा है। उसका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक भारतीय के लिए आवश्यक नहीं। अतः प्रारम्भिक शिक्षा से उसका बहिष्कार कर दिया गया है। क्योंकि एक क्लिष्ट विदेशी भाषा का बोझ बालकों पर व्यर्थ लादा जाय? बेसिक शिक्षा में नागरिक-शास्त्र की पढ़ाई का विधान है। वास्तव में इसकी हमारे देश में सबसे बड़ी आवश्यकता है। प्रचलित शिक्षा में यह सबसे बड़ी कमी है कि यह बालक-बालिकाओं को नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों भी कुछ की परिचय नहीं कराती। सामान्य विज्ञान को पाठ्य-क्रम में स्थान देकर बेसिक-शिक्षा ने एक भारी अभाव की पूर्ति की है। यह विज्ञान का युग है। अतएव हमारे बालक-बालिकाओं को प्रारम्भ से घरेलू वातावरण के सहारे विज्ञान की सामान्य बातों का ज्ञान कराने की व्यवस्था की गई है। ललित कलाओं को पाठ्य-क्रम में स्थान देना भी बेसिक शिक्षा की नवीनता है। संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाएँ मनोरंजन के अच्छे साधन हैं। दिनभर की थकान मिटाने के लिए मनुष्य को कोई-न कोई ललित कला अवश्य जाननी चाहिए।

बेसिक शिक्षा का भविष्य उज्वल प्रतीत होता है। जनता उसे प्रेम से अपना रही है उसमें जाग्रति के अंकुर विद्यमान हैं। बालक-बालिकाएँ उसे संलग्नता तथा रुचिपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं। उन्हें हाथ के काम से प्रेम होने के कारण स्कूल प्यारा लगता है, पहले की भाँति कारागृह के समान नहीं, जहाँ उन्हें डंडों की मार खानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उनमें पहले की अपेक्षा अधिक सजीवता और उत्साह देखा जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि पुरानी शिक्षा ने हमारे बालक-बालिकाओं को मृतप्रायः बना दिया था। न उनमें उत्साह रहा था और न जीवन। बेसिक-शिक्षा ने उन जर्जरित

इन्द्र ने मृत्यु-लोक से प्राप्त कर लिया हो ? ऐसा प्रतीत होता है मानो सुरपति ने अपने कोष की प्रदर्शनी लगाई हो। अथवा नीले वस्त्र के चँदोवे पर सल्मे-सितारे का काम है। अथवा विष्णु भगवान ने अपने नील कलेवर को रत्नों से अलंकृत किया है। अथवा कालिन्दी की धारा हमारे पापों से क्षुब्ध होकर स्वर्ग में चली गई है। उसी में ये श्वेत कमल खिले हुए हैं। अथवा विराट पुरुष अपने असंख्य नेत्रों से प्रकृति की शोभा निहार रहा है। अथवा इन्द्रलोक में दीपावली मनाई जा रही है। उसी के दीपक टिमटिमा रहे हैं। नहीं, यह चाँदनी रात्रि है। चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना पृथ्वी पर विकीर्ण कर रहा है। नभ-मण्डल नक्षत्रों से आलोकित है।

चारु चन्द्र की चंचल किरणें जल-थल में क्रीड़ा कर रही हैं। जलाशयों में उनकी क्रीड़ा से अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो नक्षत्रराज समस्त नक्षत्रों के साथ जल में स्नान कर रहा है। वायु के संसर्ग से जब जल की सतह लहराने लगती है तब ऐसा ज्ञात होता है मानो चन्द्रमा सहस्र रूप धारण करके जल में डुबकियाँ लगा रहा है। चारों ओर घास के मध्य स्थित सरोवर ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो प्रकृति देवी ने चन्द्रदेव के लिये चौखटे में जड़े हुए दर्पण प्रस्तुत किये हैं जिसमें वे अपने रूप को निहार कर खिलखिला रहे हैं। सरोवरों में कमल संकुचित हो गये हैं। ऐसा मालूम होता है मानों प्रकृति अपने नेत्र बन्द करके विश्राम कर रही है। चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करते हुए मदमाते निर्झर अपनी कल-कल ध्वनि से कर्णेन्द्रियों में अमृत उँडेल रहे हैं और उनकी छहरती हुई बूँदें मोतियों को मात कर रही हैं। उनकी धाराएँ द्रव रजत-सी प्रतीत होती हैं। इठलाती हुई नदियाँ हीरों की लड़ियों के समान चमकती हुई प्रवाहित हो रही हैं। वे प्रकृति-नायिका के हार जैसी प्रतीत होती हैं।

अब स्थल की छटा देखिए। घास पर ओस की बूँदें मोती-सी बिखर रही हैं। क्या कृपानाथ की छवि पर मुग्ध होकर प्रकृति ने मोती निछावर किये हैं ? अथवा क्षपाकर ने अपनी प्रेयसी प्रकृति को उपहार में अपने कोष से रत्न प्रदान किये हैं जिनको उसने अपनी साड़ी पर टाँक लिया है। अथवा

भगवान विष्णु की पूजा के लिए रत्नों का थाल सँजोया है। चन्द्रमा की किरणें पादप-पल्लवों को पार करके धरती पर पहुँचती है और वहाँ छाया में बहुत सुन्दर दृश्य उपस्थित करती हैं, मानो किसी चित्रकार ने चित्रकारी की है। अथवा वृक्षों ने ही निशा की निस्तब्धता में अपने चित्र बनाये हैं। अथवा प्रकृति-नायिका ने अपनी साड़ी पर वेल-बूटे बनाये हैं। पवन के प्रवाह में इस दृश्य की छटा और भी वढ़ जाती है। तरु-राजि के झूमने से प्रकाश-निर्मित बेल-बूटे इधर-उधर हिलने लगते हैं और नेत्रों को बड़े सुहावने लगते हैं। मानो धरा-पटल पर चलचित्र प्रदर्शित किये जा रहे हैं। चम्पा, चमेली, गुलाब, बेला, केतकी आदि अपनी सुगन्ध से पवन को आमोदित कर रहे हैं। उनकी भीनी-भीनी महक से जीवधारियों में नवजीवन का संचार हो रहा है अथवा प्रकृति-नायिका ने अपने नायक को रिझाने के लिए इत्रों से शृङ्गार किया है और वायु-दूती उसके मादक प्रभाव को नायक तक पहुँचा रही है अमराइयों में आम फूले नहीं समाते हैं। लतायें लहलहाती हुई अपना उल्लास प्रदर्शित कर रही हैं। विकसित कुसुम ऐसे प्रतीत होते हैं मानो प्रकृति नेत्र खोलकर स्वयं अपनी अनुपम शोभा निहार रही है।

वनस्थली में पूर्ण शान्ति का साम्राज्य है। दिन भर पक्षियों से गुञ्जरित कुञ्जों में इस समय नाममात्र की भी ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। न कोकिला मंजरी-मंडित आम्र-वृक्षों पर सरस संगीत की सृष्टि कर रही है। न पपीहे पिउ-पिउ' की रट लगा रहे हैं। न शुक-सारिकाएँ मधुर राग अलाप रही हैं। न चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है। वनस्थली सूनी सी प्रतीत हो रही है। चुपचाप खड़े हुए वृक्ष मानो समाधि-लीन हैं। न हरिण-हरिणियों का विचरण हो रहा है। न तरु-शाखाओं पर मचक-मचक कर खेलने वाली कीश-मण्डली के ही दर्शन होते हैं। न वृक्षों की छाल से रगड़ कर शरीर खुजलाने वाले पशु ही दृष्टिगत होते हैं। न नर्तकी मयूरी ही दिखाई दे रही हैं। दिन भर के परिश्रम से श्रान्त समस्त पशु-पक्षी पीयूषवर्षी शीतल चन्द्रिका की गोद में निद्रा का आनन्द ले रहे हैं।

अरे ! यह क्या होने लगा ? सारा दृश्य निष्प्रभ हो चला। चन्द्रिका की चटक घटने लगी। पूर्व दिशा में आकाश रक्तिम वर्ण होने लगा। उडुगण

छिपने लगे । पक्षी इधर-उधर कोलाहल करने लगे। क्या किसी के आक्रमण के भय से यह खलबली मची है ? क्या आकाश के रत्नों का किसी ने हरण कर लिया है जिससे वह रोष प्रकट कर रहा है ? नहीं ! अब रात्रि विदा हो रही है । दिनेश का आगमन होने वाला है। उसी के स्वागत के लिए मानो पूर्व दिशा ने लाल-लाल पाँवड़े बिछा दिये हैं और द्विजगण ने संगीत की योजना की है ।

साहित्य का समाज पर प्रभाव

रूप रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य के लक्षण
(२) बाल्यावस्था से ही मनुष्य का साहित्य से प्रभावित होना
(३) साहित्य के बिना मस्तिष्क का विकास न होना
(४) संसार के इतिहास का इस बात का साक्षी होना कि साहित्य ने समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन किये हैं ।
(५) भारतवर्ष का उदाहरण—
 (क) साहित्य की धार्मिकता द्वारा समाज का धार्मिक बनना
 (ख) साहित्य के आदर्शवाद द्वारा महान् आत्माओं का उत्पादन
 (ग) साहित्य में वीर-रस और देश-भक्ति की रचनाओं के अभाव से हमारा पराधीन बनना
 (ख) शृङ्गारी रचनाओं से विलासिता और अकर्मण्यता फैलना
(६) उपसंहार—सारांश

साहित्य किसी जाति के महानुभावों के विचारों, भावनाओं और अनुभवों का लिखित भण्डार है । जिस प्रकार मास्तिष्क में मनुष्य के अनुभव संचित रहते हैं, उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य-समाज के अनुभव एकत्रित रहते हैं । वर्सफोल्ड नामक एक अँग्रेज समालोचक ने कहा भी है—Literature is the brain of humanity अर्थात् साहित्य मानव-समाज का मास्तिष्क है । अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सभ्यता और संस्कृति का निर्देशक कह सकते हैं । जैसी उन्नत अथवा अवनत जाति की दशा होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा । साहित्य को समाज का दर्पण कहा जा सकता है ।

पर क्या साहित्य का भी समाज पर कुछ प्रभाव पड़ता है ? क्या साहित्य समाज के बनाने-बिगाड़ने में कुछ योग देता है ? बाल्यावस्था से ही जब मनुष्य लिखना-पढ़ना सीखता है वह अपने साहित्य से प्रभावित होने लगता है। बालकों के लिए जो पाठ्य-पुस्तकें बनाई जाती हैं उनमें साहित्य का रूप भी कुछ न कुछ रहता ही है। फिर जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है वह साहित्य के अधिक सम्पर्क में आता जाता है। यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः जब वह साहित्य के सम्पर्क में आता है तब उससे प्रभावित भी होता है। बड़ा होकर जब वही बालक सांसारिक कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है तब वह साहित्य की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत रहता है। इस प्रकार समाज के अङ्गों (व्यक्तियों) पर साहित्य का प्रारम्भिक तथा स्थायी प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव सामाजिक उन्नति या अवनति का एक अंग हो जाता है। साहित्य मनुष्य के जीवन में घुल-मिल जाता है। सुख में, दुख में, सम्पत्ति में, विपत्ति में, मनुष्य उसका सहारा लेता है।

यदि साहित्य से हम अपना सम्बन्ध तोड़ बैठें तो हमारे मस्तिष्क का विकास और वृद्धि रुक जायगी, क्योंकि साहित्य मस्तिष्क के लिए भोजन का कार्य करता है। साहित्य के अभाव में हमारा मस्तिष्क समाज के अर्जित एवं संचित ज्ञान भण्डार से वंचित रह जायगा। जैसे शरीर की उन्नति पंचभूतों—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि की उपयुक्तता पर निर्भर है उसी प्रकार मानसिक उन्नति साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है। जैसे शरीर की रक्षा भोजन से होती है वैसे ही मस्तिष्क की रक्षा साहित्य से होती है। जैसे यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य-रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है। शक्तिहीन मस्तिष्क से समाज की बहुत हानि होती है। उसकी उन्नति रुक जाती है, सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान-प्रसार का द्वार बन्द हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव में समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को हानि पहुँचती है।

संसार का इतिहास हमें बतलाता है कि मनुष्यों की सामाजिक दशा में साहित्य ने कैसे परिवर्तन किये हैं। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति का बीज रूसो और

वालटेअर के लेखों में अन्तर्निहित था। इटली के उत्थान में मैजिनी के लेखों ने हाथ बँटाया। रस्किन के लेखों ने इङ्गलैंड के अर्थ-शास्त्रियों के कान खड़े कर दिये और तदनुसार पीछे बहुत कुछ सुधार हुए। रूस का राज्य-विप्लव वहाँ के साम्यवादी साहित्य के कारण हुआ। न्यूटन, अरस्तू, प्लेटो आदि महापुरुषों की कृतियों ने मनुष्य-समाज के ज्ञान को बढ़ाया है। विज्ञान द्वारा जो कुछ आविष्कार हुए हैं अथवा हो रहे हैं वे सब साहित्य के ही प्रसाद हैं। एक वैज्ञानिक पहले अपने विषय के सब साहित्य का अध्ययन करता है, फिर स्वंय अपने मस्तिष्क द्वारा अन्वेषण-कार्य में संलग्न होता है। यदि उसके अध्ययन के लिए कोई साहित्य न हो तो वह कुछ भी नहीं कर सकता, वह समाज के ज्ञान में अभिवृद्धि नहीं कर सकता।

हिन्दूस्तान का इतिहास भी वही कहानी कहता है जो अन्य देशों का इतिहास कहता है। भारतीय साहित्य में धार्मिक भावों की प्रचुरता रही है। हमारे यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसको स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म के घेरे से बाहर नहीं जाने पाई है। हमारे साहित्य पर धर्म के इस विस्तृत प्रभाव ने समाज को दो रूपों में प्रभावित किया है। एक ओर तो प्रत्येक हिन्दू के हृदय में धर्म ने गहरी जड़ जमा ली है। खान-पान में, वस्त्रों में, रहन-सहन में, वह धर्म का ध्यान रखता है। वह उसे कभी नहीं भूल सकता। छोटी-छोटी बातों में भी धर्म उसका साथ नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि चौके के बाहर भोजन करने से उसका धर्म बिगड़ जाता है। दूसरी ओर प्रत्येक हिन्दू व्यावहारिक जीवन के प्रति उदासीन बन गया है। वह यह मानता है कि उसके जीवन का उद्देश्य सांसारिक आमोद-प्रमोद नहीं है। उसे तो यहाँ उदासीनता के साथ जीवन व्यतीत करते हुए स्वर्ग का मार्ग परिष्कृत करना है। उसे संसार के प्रलोभनों में फँसकर अपने पावन अनुष्ठान से पतित नहीं होना चाहिए। इस प्रवृति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारी सांसारिक उन्नति नहीं हो सकी है। हमने प्राचीन समय में आध्यात्मिक क्षेत्र में तो पर्याप्त ख्याति पा ली, किन्तु संसार को महत्व न देने के कारण उसकी समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया। हमने स्वतन्त्रता का मूल्य न जाना और पराधीन रहना बुरा न समझा।

भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। हमारे यहाँ सर्वदा साहित्य में सद्गुणों की दुर्गुणों पर विजय दिखलाई गई है। आचार्यों ने काव्य के नेता में उदात्त वृत्तियों का होना आवश्यक ठहराया है। प्राचीन साहित्य को छान डालिये, कहीं भी नायक में उदात्त गुणों का अभाव न मिलेगा। अन्त में प्रति-पक्षियों को पराजित करके नायक की विजय ही हमारे सभी प्राचीन काव्यों ने दिखलाई है। इस विशेषता का परिणाम यह हुआ है कि हम सदैव से सदाचार-प्रेमी रहे हैं। हमारे समाज ने एक से एक पुनीत आत्माओं को जन्म दिया है। वर्त्तमान काल में भी गांधीजी प्रभृति महान् आत्माएँ पवित्रता के प्रतीक हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं पर दृष्टिपात कीजिए। उन्होंने अपने काव्य के नायक राम में सद्गुणों की पराकाष्ठा दिखलाई है। उनमें जैसा शील देखा जाता है वैसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है। 'विनयपत्रिका' से राम के शील का एक चित्र यहाँ उद्धृत किया जाता है। देखिए—

सिला साप-सन्ताप विगत भई परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ॥
भव धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँइ परि, इतौ न अनत समाउ॥
कह्यो राज, बन दियो नारिवस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि सेवा वस भये कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ।
देवे को न कछु रिनियाँ हों धनिक तू पत्र लिखाउ॥

राम के इस हृदयग्राही स्वभाव ने न जाने कितने मनुष्यों को डूबने से नहीं बचा लिया है, न जाने कितने मनुष्यों ने इसके सहारे आचरण को सुधार कर अपना कल्याण नहीं किया है। 'जेहि सपनेहु परनारि न देखी' सरीखी पंक्तियाँ तो प्रत्येक हिन्दू का कण्ठहार हो रही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे साहित्य ने चरित्र-निर्माण में बहुत योग दिया है।

हमारे साहित्य में वीर-रस तथा देशभक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का प्रायः अभाव सा है। भूषण, सूदन आदि कुछ इने-गिने कवियों के अतिरिक्त किसी ने

वीर-रस की रचनाएँ नहीं की हैं। देश-भक्ति की रचना कदाचित ढूँढ़ने से एक भी नहीं मिलेगी। इसका भी हिन्दू-समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है। यह हमारी पराधीनता का एक कारण है। हमारे हृदय में वीरता या देश-भक्ति का कभी संचार नहीं हुआ। हमने अकर्मण्य बने रह कर प्रति-पक्षियों से कभी लोहा नहीं लिया। यही कारण है कि हमारे ऊपर विदेशियों ने शासन किया।

साहित्य में शृङ्गार रस की प्रचुरता ने समाज में विलासिता को बढ़ाया। रीतिकाल की शृङ्गारमयी रचनाओं ने जनता को विलासिता के गर्त में डुबो दिया। राजा और प्रजा दोनों समान रूप से विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे। दोनों में अकर्मण्यता छा गई।

दोनों इस प्रकार की कविताओं में आनन्द लेने लगे—

"बढ़ति निकसि कुचकोर-रुचि, कढ़त और भुजमूल।
मन लुटिगो लोटन चढ़त, चोंटत ऊँचे फूल॥"

× × ×

"ताहि देखि मन तीरथनि, विकटनि जाय वलाय।
जा मृगनैनी के सदा, वेनी परसति हाय॥"

वर्त्तमान काल में भी साहित्य समाज को प्रभावित कर रहा है। सबसे अधिक प्रभाव अँग्रेजी साहित्य का पड़ा है। अँग्रेजी साहित्य देश-भक्ति के उद्गारों से ओत-प्रोत है। उसके सम्पर्क से भारतवासियों के हृदय में चिरकाल से सुपुप्त देश-प्रेम का भाव आज जागृत हो गया है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में देश-प्रेम की लहरें उठ रही हैं। आज भारतवासी अपनी मातृ-भूमि की बेड़ियाँ काटने में सफल हुए हैं। देश का साहित्य भी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रकट करके समाज को उनमें तल्लीन कर रहा है। कहीं पर कोई कवि फूल से इस प्रकार अभिलाषा प्रकट करा रहा है—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

तो कहीं पर कोई कवि अपने पात्र से जन्मभूमि के प्रति इस प्रकार कह रहा है—

में हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ सरसूँ कहीं।
मैं हूँ तेरा जलद बढ़ूँ वरसूँ कहीं॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य सर्वदा समाज को अपने रंग में रँगता रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज भी साहित्य को अपने रंग में रंगता है। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है। कभी एक-दूसरे के प्रभाव से परे नहीं हो सकता। "Poet and the age react upon each other" अर्थात् कवि और समय एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। समाज की उत्पत्ति के पश्चात् साहित्य की उत्पत्ति होती है। अतः पहले समाज साहित्य को प्रभावित करता है और फिर स्वयं उससे प्रभावित होता है। साहित्य और समाज का यह सम्वन्ध कभी नहीं टूट सकता। कारण यह है; साहित्य का उत्पादक मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वस्तुतः देश की उन्नति के लिए साहित्य एक नितान्त आवश्यक साधन है। किसी ने ठीक ही कहा है—

अन्धकार है वहीं, जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है।

———

हिन्दी में गीत-काव्य की परम्परा

रूपरेखा—

(१) प्रस्तावना—गीत-काव्य का सौन्दर्य
(२) हिन्दी में गीत-काव्य परम्परा—
  (क) आदि काल में - विद्यापति का गीत-काव्य
  (ख) मध्य काल में—सूरदास, मीरा और तुलसी का गीत-काव्य
  (ग) आधुनिक काल में—भारतेन्दु, सत्यनारायण, प्रसाद, पंत, महादेवी वर्मा, वच्चन तथा मैथिलीशरण गुप्त का गीत-काव्य।
(३) उपसंहार—सारांश।

बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष से मानव-हृदय आन्दोलित हो उठता है और उसमें भाव-तरंगें उठने लगती हैं। जब भाव अधिक प्रबल होते हैं,

जब हृदय उनसे पूर्ण अभिभूत हो जाता है, तब हम गुनगुनाने लगते हैं, तब हम गाने लगते हैं। भाव-विभोर हृदय अपनी अभिव्यक्ति गीतों में ही करता है। कोयल की कूक वियोगिनी के हृदय में हूक उत्पन्न कर देती है, उसके हृदय में प्रसुप्त भाव को उसी प्रकार उद्दीप्त कर देती है जिस प्रकार घृत अग्नि को प्रदीप्त करता है, और वह सहसा गुनगुनाने लगती है।

'सखि अजहुँ न आयहु मोर पिया।"

वास्तव में भावुकता गीत-काव्य की जननी है। जब भाव चरमोत्कर्ष को पहुँच जाता है तब कवि प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र को छोड़कर गीत-काव्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए विवश हो जाता है। गीत पाठक या श्रोता को कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध-सा कर देते हैं। उनमें तन्मयता का अनुपम गुण विद्यमान रहता है। उन्हें रस की छोटी-छोटी पिचकारियाँ समझिए।

भावुकता प्रधान होने के कारण गीत-काव्य को हमारे साहित्य में आरम्भ से ही अपनाया गया। क्या संस्कृत साहित्य, क्या हिन्दी-साहित्य दोनों इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। हिन्दी में उपलब्ध सर्व प्रथम गीतकाव्य 'मैथिल-कोकिल' विद्यापति की पदावली है। इसमें संस्कृत कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' का अनुकरण किया गया है। इसमें अनूठी मधुरता, सरसता तथा कोमलता है जो पाठक को तन्मय किए बिना नहीं छोड़ती। भावों की मार्मिक अभिव्यंजना सराहनीय है। इसके पदों को गाकर चैतन्य महाप्रभु इस प्रकार भाव-निमग्न हो जाते थे कि उन्हें मूर्छा-सी आ जाती थी। पद अधिकतर शृङ्गारमय हैं जिनमें नायिका-नायक राधा-कृष्ण हैं। देखिए—

"सुखद सेजोपरि नागरि नागर, बइसल नवरति साधे।
प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन, थर-थर काँपए राधे॥"

विप्रलम्भ शृङ्गार का एक पद देखिए—

'सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय बिनु घर मोए आजि।
बिनति करहुँ सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिहर साजि॥"

कितनी विषादपूर्ण पंक्तियाँ हैं! पति-विहीन गृह वियोगिनी राधा को इतना दुःखदायी है कि वह अपने जीवन का अन्त करने के लिए उद्यत है।

ब्रजभाषा में गीत-काव्य की जो धारा विद्यापति ने प्रवाहित की वह आगे चलकर कृष्णभक्त कवियों द्वारा ब्रज के करील-कुञ्जों के बीच फैलकर मुरझाए मनों को सींचने लगी। सूरदास, मीराबाई आदि कवियों ने उसी शैली में अपनी वाणी का संचार किया। उसमें सुर और लय के माधुर्य का भी रस परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरदास ने कोई राग-रागिनी छोड़ी नहीं, सभी को अपने सूरसागर में स्थान दिया। इनके पद भावों से लबालब भरे हैं। उन पर 'गागर से सागर' की कहावत चरितार्थ होती है। उनको सुनकर श्रोता मस्ती में झूमने लगता है। सचमुच सूर के पद पागल किये विना नहीं छोड़ते, हृदय को तीर की भाँति वेध डालते हैं। उनकी सी मधुरता, सरसता, गम्भीरता तथा मर्मस्पर्शिता अन्यत्र दुर्लभ है। सूर के गीत-काव्य में कृष्ण-जीवन का सौंदर्य एवं माधुर्यपूर्ण अंग प्रतिपादित हुआ है। उसमें कृष्ण के बाल्यकाल तथा यौवन काल की नाना प्रकार की मनोहर परिस्थितियों का विशद् चित्रण हुआ है। उसमें वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का पूर्ण उद्घाटन हुआ है। सच पूछिए तो हृदय के पारखी सूर का हृदय प्रेम से आप्लावित था। उसके तीनों स्वरूपों वात्सल्य प्रेम, दाम्पत्य प्रेम तथा भगवद्विषयक प्रेम (भक्ति) का विस्तृत एवं स्वाभाविक प्रत्यक्षीकरण इनके गीत-काव्य में हुआ है। देखिए—

"जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हावे जोई सोई कछु गावै॥"

वात्सल्य प्रेम का यह कैसा स्वाभाविक चित्र है!

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत वर्षा ऋतु हम पर जब तें स्याम सिधारे॥"

विरहिणी गोपिकाओं की यह उक्ति कितनी वेदनापूर्ण, कितनी मर्मस्पर्शी है!

"हौं हरि सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरी मेरी और न कोऊ लायक॥

यहाँ भक्त-हृदय की दीनता कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुई है!

वर्त्तमान काल में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० रामचन्द्र शुक्ल के कतिपय प्रकृति-वर्णन इसी कोटि के हैं। देखिए—

आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
पक्षों से पथ झाड़, चपल चितचोर यह।
मचक-मचक वह कीश मण्डली खेलती,
लचक लचक वह डाल भार है झेलती।

(मैथिलीशरण गुप्त)

बैठे भुजंगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं।
पै आज झपटत नेकु नहिं तितलीन-पर दरसाय हैं॥

या

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने भी प्रकृति का सुन्दर एवं असुन्दर, सौम्य और उग्र दोनों प्रकार का रूप प्रस्तुत किया है। सुन्दर रूप देखिए—

"रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर।
अरुण अपाङ्गों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्राङ्गण में तभी॥"

असुन्दर रूप देखिए—

"उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों-सी।
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये ब्यालों-सी॥"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय भी प्रकृति का अच्छा वर्णन करते हैं। गुप्त जी की भाँति ये भी प्रकृति का सुन्दर रूप चित्रित करते हैं, परन्तु शुक्लजी की भाँति इनका चित्त सामान्य दृश्यों में नहीं रमता। इनका संध्या-वर्णन देखिए—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अवराजती।
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्त्तमान काल के हिन्दी-कवियों को प्रकृति से अनुराग हो चला है। अब प्रकृति उनकी रचनाओं में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने लगी है। हमारी कविता में प्रकृति के जो सांग और संश्लिष्ट चित्रों का प्रायः अभाव पाया जाता है; आशा है, उसकी पूर्ति शीघ्र हो जायगी। इसके लिए प्रकृति के साथ हृदय का सामंजस्य अपेक्षित है। प्रकृति मानव-जाति की चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी ओर उदासीन रहना मानव-जाति के लिए हितकर नहीं। कवियों द्वारा मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होने में मनुष्य-जाति का कल्याण है।

आख्यायिका (कहानी)—लेखन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—गद्य-क्षेत्र में आख्यायिका का महत्व
(२) लक्ष्य और क्षेत्र
(३) आरम्भ की विधि
(४) वस्तु की स्वाभाविकता, मनोरंजकता; और सरलता
(५) वस्तु का प्रवाह
(६) वस्तु-रचना में सांकेतिकता की आवश्यकता
(७) अंत की विधि
(८) आख्यायिका का हृदय की चुटकी लेना
(९) आख्यायिका में पात्रों का गौण स्थान
(१०) कथोपकथन से आख्यायिका में सौन्दर्य-वृद्धि
(११) दृश्य-विधान
(१२) आख्यायिका और शिक्षा
(१३) आख्यायिका के भेद और प्रणालियाँ
(१४) उपसंहार— आख्यायिका का भविष्य

इधर कुछ दिनों से गद्य के क्षेत्र में आख्यायिका का प्रवेश हुआ है। जिस प्रकार गद्य-साहित्य के नाटक, उपन्यास; और निबन्ध अङ्ग माने जाते हैं उसी प्रकार अब आख्यायिका भी उसका एक अङ्ग माना जाने लगा है। पिछले कुछ वर्षों से गद्य-साहित्य के इस अङ्ग ने आशातीत उन्नति की है। मासिक पत्रों में जैसी इसकी धूम रहती हैं वैसी साहित्य के किसी और अङ्ग की नहीं। यहाँ तक कि इसके बढ़ते हुए प्रचार ने उपन्यास तक के स्थान को हड़पने का दावा किया है। कुछ लोगों की यह धारणा हो चली है कि निकट भविष्य में आख्यायिका उपन्यास का स्थान ले लेगी और उपन्यास काल के अन्धकार में विलीन हो जायगा। हम यह तो नहीं कह सकते कि भविष्य के गर्भ में क्या है, भविष्य में क्या होगा; पर यह देखते हुए कि आख्यायिका के छोटे-से क्षेत्र में जीवन की गंभीर समस्याओं का विवेचन नहीं हो सकता, ऐसा प्रतीत होता है कि आख्यायिका उपन्यास का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते रहेंगे। यदि आख्यायिका मनोरंजन करती रहेगी, तो उपन्यास जीवन की समस्याओं को सुलझाया करेगा।

आख्यायिका का छोटा-सा गद्य-कथानक होता है जो एक बैठक में पढ़कर समाप्त हो सके। विषय की दृष्टि से इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। किसी भी विषय पर आख्यायिका लिखी जा सकती है। समाज की कमजोरियों के प्रदर्शनार्थ भी आख्यायिका लिखी जा सकती है, ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने को भी आख्यायिका की रचना की जा सकती है। मनोविज्ञान-सम्बन्धी भी आख्यायिका हो सकती है और मनोरंजनार्थ किसी घटना के वर्णन-स्वरूप भी आख्यायिका रची जा सकती है। निस्संदेह उसका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है। पर इस कार्य का सम्पादन करते हुए भी वह जीवन के किसी अङ्ग पर, जीवन की किसी दशा पर, प्रकाश डाल सकती है।

आख्यायिका की रचना के सिद्धान्त अभी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि यह एक नई चीज है; और अभी इसका सुचारु रूप से विवेचन नहीं हो सका है। फिर भी विद्वानों ने साहित्य के इस अङ्ग की कतिपय विशेषताओं का उद्घाटन किया है।

सबसे पहली विशेषता का सम्बन्ध आख्यायिका के आरम्भ करने की विधि से है। वस्तुतः आख्यायिका के आरम्भ पर ही उसकी सफलता का भार रहता है। यदि आरम्भ अच्छा न हुआ तो वह पाठक के ध्यान को आकर्षित नहीं कर सकती। अतएव उसके आरम्भ में लेखक को विशेष सावधान रहना चाहिए। उसमें यदि कुछ परिस्थिति-परिचायक या समाँ बाँधने वाली बातें रहें; अथवा किसी आकस्मिक घटना का सूत्रपात कर दिया जाय; अथवा दो पात्रों का वार्तालाप दिखाया जाय; तो निस्संदेह पाठक अवश्य उसको पढ़ने के लिए उत्सुक होगा।

आख्यायिका की वस्तु स्वाभाविक, मनोरंजक; एवं सादा हो। वस्तु की जटिलता से उसका सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। आख्यायिका का ध्येय किसी एक भावना को जाग्रत कर देना है। इसकी साधना के लिए लेखक को जीवन का एक ऐसा दृश्य लेकर चलना चाहिए जिसका आख्यायिका के संकुचित क्षेत्र में भलीभाँति निर्वाह हो सके। आख्यायिका के समाप्त कर देने पर पाठक यह अनुभव न करे कि वह अधूरी रह गई या उसका अनावश्यक विस्तार कर दिया गया। ये दोनों ही बातें उसके लिए जीवन-घातक हैं। यदि वस्तु अधूरी रह जायगी, उसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन न होगा, तो पाठक का मन सन्तुष्ट न होगा, उसे आनन्द न आयगा। यदि वस्तु का अनावश्यक विस्तार होगा तो पाठक की आकांक्षा अन्त तक नहीं बनी रह सकेगी। उसे वस्तु का बढ़ाया हुआ अनावश्यक अंग भार-स्वरूप प्रतीत होगा; और उसके मनोरंजन का स्थान अरुचि ले लेगी।

वस्तु की गति या प्रवाह की ओर लेखक को विशेष सजग रहना चाहिए। वह रुकती-चलती निर्झरी न हो, बल्कि स्वच्छ विहारिणी पलपल पर प्रवाहित होने वाली तरंगिनी हो। उसकी घटनाएँ एक-दूसरी से नथी रहें। इसके अतिरिक्त वस्तु-रूपी माला में क्रमानुसार उनका स्थान हो। जहाँ तक हो सके घटनाएँ थोड़ी हों, क्योंकि अनेक घटनाओं के समावेश से वस्तु में बहुमुखता एवं जटिलता आ जाती है। वस्तु में कहीं भी शिथिलता न आने पाए। इसकी साधना के लिए उसको निरर्थक वाक्यों तथा प्रसंगों से बचाते जाना चाहिए।

वस्तु-प्रतिपादन ऐसा न हो कि उसका अन्तिम परिणाम पाठक अनुमान कर सके।

वस्तु की रचना में सांकेतिकता को पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए। सांकेतिकता से उसमें कौतूहल और उत्सुकता आजाती है। ये दोनों आख्यायिका के प्राण-रञ्जक हैं। उदाहरण के लिए; कोई लेखक किसी युद्ध-घटना का वर्णन कर रहा है। वर्णन करते-करते वह लिखता है—"इसी समय गोली चली।" यह बात पाठक के मस्तिष्क में कौतूहल का संचार करती है। वह जानना चाहता है कि गोली किसने चलाई, क्यों चलाई, उससे किसी की मृत्यु हुई या नहीं, इत्यादि ? यदि लेखक इन प्रश्नों का उत्तर अंत तक न दे तो पाठक की जिज्ञासा अंत तक बनी रहती है। पाठक आख्यायिका को अन्त तक पढ़ता हुआ चला जाता है। इस प्रकार के संकेत उसको कहानी की चरम सीमा (climax) पर पहुँचा देते हैं। यह वह स्थान है जहाँ पाठक की उत्सुकता की हद हो जाती है। इस स्थान पर पहुँचने के लिए कहानी की गति में तीव्रता बढ़ती ही जानी चाहिए; और जब कहानी वहाँ पहुँच जाय तब पाठक से सामने कहानी का सारा रहस्य खुल जाय।

कहानी को कुछ लोग चरम सीमा पर पहुँचाकर उसका अन्त कर देते हैं। यह आवश्यक तो नहीं है कि सर्वदा चरम सीमा पर ही कहानी समाप्त की जाय, पर इस प्रकार की समाप्ति हृदय पर विशेष प्रभाव डालती है। अतः यह अच्छी समझी जाती है। कभी-कभी चरम सीमा पर पहुँचकर कहानी का अन्त हो जाने पर भी कुछ बातें उपसंहार के रूप में लिखने की आवश्यकता होती है। कहानी कई प्रकार से समाप्त की जाती है। कोई लेखक कहानी के अन्तिम भाग की कुछ बातों को पाठक के विचारने के लिए छोड़कर वस्तु का अधूरे ढंग से अन्त कर देते हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक शरत बाबू की रचनाओं में यही विशेषता पाई जाती है। कोई लेखक प्रत्येक प्रसंग का अन्तिम परिणाम दिखाकर ही समाप्ति करते हैं। प्रेमचंदजी की कहानियों में यह विशेषता देखने को मिलती है। कुछ लोग कहानी का अन्त आकस्मिक तौर पर करते हैं। पाठक कुछ परिणाम सोच रहा है, लेखक कुछ और ही दृश्य उपस्थित कर देता है। पाठक किसी कहानी के अन्त में नायिका के विरह में नायक की मृत्यु हो

जाना आवश्यम्भावी समझ रहा है, परन्तु लेखक नायक-नायिका का संयोग कराके उसको आश्चर्यान्वित कर देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का अन्त सबसे सुन्दर होता है। पाठक के हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी-सी मालूम होने लगती है। शरत बाबू की रचनाओं में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में मिलती है। प्रेमचन्दजी की 'धोखा' शीर्षक कहानी का अन्त इसी प्रकार का है। इस प्रकार की समाप्ति में इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि कहीं आकस्मिकता असम्भावना का स्थान ग्रहण न कर ले।

आख्यायिका का वस्तु-प्रतिपादन हृदय की चुटकी लेने वाला हो। एक अंग्रेजी लेखक का कथन है—"The stories that touch the heart are most popular." अर्थात् हृदय को स्पर्श करने वाली कहानियाँ बहुत अधिक पसंद की जाती हैं। जो कहानी मस्तिष्क की चुटकी लेती है उसका आदर नहीं होता, क्योंकि वह मनोरंजन नहीं कर पाती। हाँ, कभी-कभी दिमागी कसरत से पैदा की गई चीजें विनोद विदग्धता आदि रूप में चित्त प्रसन्न कर सकती हैं, परन्तु जिनका सम्बन्ध हृदय से होता है, वे चीजें हृदय की कली-कली खिला देती हैं। इन दोनों प्रकार के मनोरंजन में भेद है। पहला; वाणी के वैचित्र्य से, उक्ति के अनूठेपन से, विनोद का रूप ग्रहण करता है; दूसरा; भाव के सहारे रसोद्रेक करता हुआ लोकोत्तर आनन्द में निमग्न करता है। हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव या रस की दृष्टि से आख्यायिका का गद्य-क्षेत्र में वही स्थान है जो गीति-काव्य (lyric) का काव्य-क्षेत्र में।

महत्व की दृष्टि से आख्यायिका में वस्तु के पश्चात् पात्रों का स्थान है, जैसा कि एक अंग्रेज समीक्षक का कथन है—"In good stories plot comes first and character second." प्रत्येक कहानी में कुछ-न-कुछ पात्र रहते ही हैं। घटनाओं और पात्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पात्रों के चरित्र के आधार पर घटनाओं की उत्पत्ति एवं विकास होता है। अतएव चरित्र-चित्रण सफल कहानी का एक आवश्यक अंग है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि कहानी के संकुचित क्षेत्र में चरित्र का समुचित विकास नहीं दिखलाया जा सकता। लेखक घटनाओं से सम्बन्धित पात्रों की

विशेषताओं का आभास-मात्र देता हुआ आगे बढ़ता है। उसका प्रधान विषय वस्तु-रचना होता है। उसी में वह अपना कौशल दिखाने का प्रयास करता है।

आख्यायिका में कथोपकथन भी सौन्दर्य की वृद्धि करता है। पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने और वस्तु के विकास में सहायता प्रदान करने के लिए आख्यायिका में इसका उपयोग होता है। इसकी रोचकता, सजीवता, और अकृत्रिमता से कहानी अधिक सुन्दर हो जाती है।

सफल आख्यायिका में कुछ प्राकृतिक दृश्यों की भी उद्‌भावना की जाती है। जैसे—प्रातःकालीन छटा, उपवन, नदी-तट, चाँदनी रात्रि; बसन्त आदि। ये दृश्य घटना अथवा चरित्र-चित्रण के लिए वातावरण (back-ground) का कार्य देते हैं। ऐसे वातावरण में किसी घटना का सूत्रपात करना अथवा पात्र का चित्र अंकित करना कहानी को अधिक आकर्षक बनाता है। उदाहरण के लिए; सूखी खेती को हरी-भरी करते हुए मेघ, ग्रीष्म-ताप को शांत करती हुई शीतल और सुगंधित पवन, शरद-ऋतु में ठंड को दूर करता हुआ सूर्य; इन दृश्यों के साथ यदि किसी पात्र द्वारा एक दीन-हीन असहाय दुःखिया का उपकार दिखाया जाय, तो वह पाठक के हृदय को अधिक प्रभावित करेगा।

यद्यपि आख्यायिका का लक्ष्य मनोरंजन है, तथापि वह गौण रूप से छिपे हुए तौर पर शिक्षा भी देती है। साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य के प्रत्येक अङ्ग में—चाहे वह उपन्यास हो, चाहे आख्यायिका; चाहे वह कविता हो, चाहे वह नाटक; जीवन के किसी-न-किसी अङ्ग पर प्रकाश डाला जाता है। तब यह कब सम्भव है कि साहित्यकार जीवन के जिस अङ्ग का विवेचन करे उसके विषय में अपनी आलोचना न दे? कुछ लोगों को ऐसा करना भले ही अखरे; पर यह स्वाभाविक है। साहित्यकार इस विषय में विवश है।

आजकल प्रायः दो प्रकार की आख्यायिकाएँ देखने को मिलती हैं—(१) घटनात्मक; और (२) भावात्मक। घटनात्मक आख्यायिका में घटनाओं की प्रधानता रहती है, मानव-हृदय के विश्लेषण का बहुत कम

स्थान रहता है। इस प्रकार की कहानियों में स्वर्गीय गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था'; और स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की कहानियाँ रक्खी जा सकती हैं। दूसरी तरह की आख्यायिकाओं में भावों की प्रधानता रहती है, घटनाएँ भावों में दबी रहती हैं। स्वर्गीय प्रसादजी की 'आकाशदीप' शीर्षक कहानी इसी कोटि की है। घटनात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ अच्छी होती हैं। यह अवश्य है कि पहली प्रकार की कहानी-रचना दूसरी प्रकार की कहानी-रचना से अपेक्षाकृत कुछ सरल होती है।

आख्यायिका-लेखन में लेखक कई प्रकार की प्रणालियों का प्रयोग करते हैं। कोई लेखक दर्शक की भाँति कहानी लिखता है, कोई स्वयं कहानी के नायक का स्थान ग्रहण कर लेता है, कोई पत्रों द्वारा वस्तु-रचना करता है, कोई कथोपकथन द्वारा कहानी का स्वरूप उपस्थित करता है; और कोई अपने किसी पात्र की डायरी के उद्धरणों से वस्तु-सामग्री जुटाता है। पहली को ऐतिहासिक प्रणाली, दूसरी को आत्म-चरित्र प्रणाली, तीसरी को पात्र-प्रणाली, चौथी को कथोपकथन-प्रणाली; और पाँचवी को डायरी-प्रणाली कहते हैं। सबसे अधिक पहले और दूसरे प्रकार की कहानियों का प्रचार है।

आख्यायिका का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। दिन-प्रतिदिन इस क्षेत्र में उन्नति होती जा रही है। आजकल मनुष्य का कार्य-क्षेत्र जटिल होने के कारण उसे गद्य के विस्तृत अङ्गों, नाटक; और उपन्यास का अध्ययन करने का अवकाश नहीं रह गया है। ऐसी दशा में आख्यायिका ही उसका मनोरंजन करती है और समाज के विकृत रूप को उसके सम्मुख रखकर उसमें सुधार की रूप-रेखा का विधान करती है।

साहित्य और मानव-जीवन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य और मानव-जीवन की घनिष्ठता।
(२) कुछ लोगों के अनुसार साहित्य और जीवन में असम्बन्ध—इस कथन की समीक्षा।

(३) साहित्य का मानव-जीवन के विविध पहलुओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलना।
(४) भावों के परिष्कार और उद्‍बोधन के लिए साहित्य की आवश्यकता।
(५) साहित्य का मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली होना।
(६) मनुष्य को सदाचारी बनाने में साहित्य का हाथ।
(७) साहित्य द्वारा मनोरंजन का विधान और मनोरंजन का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान।
(८) उपसंहार—सारांश।

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" यह वह साधन है जिसके द्वारा मानव-हृदय का सम्बन्ध मनुष्यों, जीवधारियों; और प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के साथ स्थापित किया जाता है। कविता साहित्य का एक अंग है। यों तो जड़-चेतन सभी साहित्य के क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते हैं, सभी का प्रतिपादन साहित्य करता है, पर मानव-जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनुष्य स्वयं साहित्य का उत्पादक होता है और साहित्य में वह अपने जीवन-सम्बन्धी विचारों एवं अनुभवों का समाज को साक्षात्कार कराता है। जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं का उद्‍घाटन और अनेक प्रकार की दशाओं का प्रत्यक्षीकरण ही वह अपने साहित्य में किया करता है। अंग्रेजी के समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—Poetry is at bottom a criticism of life, अर्थात् कविता वास्तव में जीवन की आलोचना है।

पर कुछ लोग कहा करते हैं कि साहित्य का जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। साहित्य की दुनिया पंच-भूतात्मक नहीं। उसका इस संसार से कुछ भी सरोकार नहीं। इस प्रकार वे साहित्य को जीवन से भिन्न करना चाहते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि साहित्यकार अपने साहित्य में जीवन को स्थान नहीं दे रहे हैं उनकी रचनाएं जीवन से उदासीन होने लगी हैं। अनूठी उक्तियाँ कह देना ही आजकल कविता समझा जा रहा है। आजकल काव्य में जीवन की गम्भीर समस्याओं का विवेचन न रहकर

सूक्तियों का बोलबाला है। यह सब 'कला, कला ही के लिए'; 'अभिव्यंजना-वाद' आदि वादों का प्रसाद है। पर ऐसे लोगों को, जो साहित्य का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्षपाती हैं, यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि साहित्य जीवन से मुँह मोड़कर साहित्य नहीं बना रह सकता; और चाहे जो कुछ बन जाय। इससे साहित्य का जो कुछ महत्व एवं सौन्दर्य है वह सब नष्ट हो जायगा। वह केवल वैचित्र्य-विधान का उपकरण मात्र रह जायगा। समाज को इससे बहुत हानि होगी।

साहित्य मानव-जीवन के विविध पहलुओं का प्रतिपादन करता हुआ मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलता है। जब मनुष्य को शोक होता है तब वह 'रामचरित मानस' के विलाप करते हुए दशरथ की दशा देखकर अपने हृदय को हल्का करता है। जब मनुष्य पर आपत्ति आती है, तब वह वन में वल्कल वस्त्र धारण किए पैदल जाते हुए राम को देखकर अपने दु:ख को वैसा नहीं समझता। ग्लानि-युक्त हृदय भरत की आत्म-ग्लानि के दर्शन करके कुछ सान्त्वना पाता है। सैकड़ों बन्धु-बान्धव सहानुभूति दिखलाकर जो सान्त्वना नहीं प्रदान कर सकते, उस सान्त्वना को साहित्य जीवन की ऊँची-नीची दशाएँ दिखलाकर सहज में दे सकता है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन से संबंधित होने के कारण साहित्य मनुष्य-समाज के हृदय को भी अधिक उदार करता है, संकुचित नहीं रखता। मनुष्य अपने पारिवारिक संकीर्ण घेरे के बाहर निकलकर संसार के अन्य मनुष्यों को भी अपने कुटुम्ब के ही अन्तर्गत समझने लगता है। इस प्रकार जो जीवन सहानुभूति के अभाव में भार-स्वरूप एवं कटु हो सकता है उसे साहित्य अपने माधुर्य द्वारा हरा-भरा कर देता है।

मानव जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता हुआ साहित्य मनुष्य के भावों को जीवित रखता है, उसके भूखे हृदय के लिए भोजन जुटाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के कार्य भी जटिल एवं अधिक हो गये हैं। मनुष्य दिन-भर पेट की समस्या हल करने के लिए कुछ न कुछ कार्य करता ही देखा जाता है। एक मज़दूर को देखिए, जो प्रातः काल से सांयकाल तक पसीने में तर हुआ इधर से उधर बोझा ढोता फिरता

है; या एक किसान को देखिए जो सवेरे सूर्योदय के पूर्व ही खेत जोतने घर से बाहर निकल जाता है और संध्या के समय सूर्यास्त के पश्चात् घर लौटता है; या एक दूकानदार को देखिए जो अपनी दूकान पर बैठा हुआ दिन-भर सौदा बेचता रहता है। एक ही कार्य में सदैव संलग्न रहने के कारण मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। उसके हृदय के कई भाव, जिनकी आवश्यकता उसे अपने दैनिक जीवन में कभी नहीं पड़ती, मर जाते हैं; और फिर कभी यदि किसी अवसर पर उन भावों की आवश्यकता भी पड़ती है तो पुनः जीवित नहीं होते। यही कारण है कि रुपये—पैसे गिनते हुए लालाजी एक अपाहिज भूखी बुढ़िया की याचना को सुनकर टस से मस नहीं होते। उनके हृदय में दया का भाव उदित नहीं होता। हो भी कैसे ? अपने दैनिक जीवन में उनको कभी उस भाव की आवश्यकता ही नहीं हुई। अतः वह भाव उनके हृदय में मर गया। हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की संरक्षा साहित्य द्वारा ही हो सकती है। मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाओं का, जिनमें विविध प्रकार के भाव मूल-रूप में रहते हैं, आश्रय लेकर साहित्य मानव-हृदय को सजीव रखता है। उसके द्वारा भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही कार्य-भार से दबा क्यों न रहता हो; यदि वह साहित्य से सम्बन्ध रखेगा, तो वह सर्वदा सहृदय बना रहेगा उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार साहित्य मानव-जीवन की सहायता लेकर मनुष्य को पशु होने से बचा लेता है, क्योंकि जिस मनुष्य का हृदय भाव-रहित है वह पशु के ही समान है। ऐसे मनुष्य के अस्तित्व से समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली वृत्ति हृदय में रहती है। मस्तिष्क द्वारा किसी कार्य के गुण-दोष विचारकर हम उसमें संलग्न या उससे विरत नहीं होते। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य एक कार्य को लाभदायक जानता हुआ भी उसे करने के लिये तैयार नहीं होता, क्योंकि वह उसे अच्छा नहीं लगता, उसमें उसका हृदय योग नहीं देता। कर्म का सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं; वरन् हृदय से है। यदि हृदय परिष्कृत होगा तो मनुष्य स्वभावतः अच्छे कार्य में प्रवृत्त होगा। साहित्य जहाँ हृदय के भावों को जीवित रखता है, वहाँ उन्हें

परिष्कृत भी करता रहता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में भी साहित्य अपना स्थान रखता है।

मानव-जीवन को सदाचारी बनाने में साहित्य का विशेष हाथ रहता है। जिस मनुष्य को सैकड़ों उपदेशक या सुधारक शुद्ध मार्ग पर नहीं ला सकते, उस मनुष्य को साहित्य चरित्र-सौन्दर्य का साक्षात्कार कराके शुद्ध मार्ग पर ला सकता है। आजतक न जाने कितने दुष्ट तथा दुराचारी गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरित मानस' पढ़कर या सुनकर सुधर गए हैं। गोस्वामीजी ने राम के आदर्श चरित्र का प्रतिपादन करके हिन्दू-जनता को सदाचार का पाठ पढ़ाया है। साहित्य तो सीधा हृदय में प्रवेश कर जाता है और उसे अपने वश में कर लेता है। कुछ लोगों का कथन है कि साहित्य का आचार से सम्बन्ध होने पर उसके सौन्दर्य में कमी आ जाती है। अतः हमें साहित्य को आचार से पृथक् रखना चाहिये। पर यह विवाद ठीक नहीं प्रतीत होता। वास्तव में साहित्य का सदाचार से मेल होने पर ही वह सोने में सुगन्ध का गुण प्राप्त करता है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता है।

मानव-जीवन में मनोरञ्जन का महत्वपूर्ण स्थान है। मनोरञ्जन के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के खेलों की रचना करता है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य सदैव मनोरंजन चाहता रहता है। जीवन के कटु अनुभव भी मनोरंजन-सुधा का पान करते ही मधुर लगने लगते हैं। साहित्य मनोरंजन का एक साधन है। उदासीनता के गर्त में डूबे हुए हृदय को नारद-मोह का प्रसङ्ग सुना दीजिये; और फिर देखिए उसकी उदासीनता कहाँ उड़ जाती है। वस्तुतः साहित्य के पढ़ने या सुनने से अलौकिक आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। चाहे किसी रस का साहित्य क्यों न हो, उससे आनन्द ही मिलेगा, मनोरंजन ही होगा।

सारांश यह है कि मानव-जीवन में साहित्य का अत्यन्त महत्व है और दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में साहित्य का जन्म-जीवन से ही हुआ है; और वह भी जीवन के लिए हो। हडसन नामक एक अँग्रेज समालोचक ने ठीक ही कहा है—

"Poetry is made out of life, belongs to life and exists for life." अर्थात् कविता का आविर्भाव जीवन से होता है, वह जीवन की वस्तु है; और उसका अस्तित्व भी जीवन के लिए है।

———

हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—जातियों के सम्पर्क से भाषाओं पर प्रभाव।
(२) मुसलमानों के सम्पर्क का हिन्दी पर प्रभाव।
(३) फारसी का हिन्दी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव—
(क) नाजुकता की प्रवृत्ति, (ख) दूर की सूझ, (ग) वीभत्सता का समावेश।
(४) सूर और तुलसी का इस प्रभाव से मुक्त रहना।
(५) फारसी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव।
(६) फारसी का हिन्दी के छन्द विधान पर प्रभाव।
(७) फारसी का हिन्दी की रचना-शैली पर प्रभाव।
(८) उपसंहार—कुप्रभाव को रोकने की आवश्यकता।

जब दो जातियों का सम्पर्क होता है तब उसमें पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगता है। एक जाति की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, भाषा, साहित्य आदि का दूसरी जाति की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, भाषा, साहित्य आदि पर प्रभाव पड़ता है। इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। मुसलमानों और अँग्रेजों के संसर्ग से हिन्दुओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों से जहाँ हमने पायजामा पहिनना तथा आदावअर्ज करना सीखा और पर्दे की कुप्रथा को ग्रहण किया है वहाँ उनकी भाषा फारसी और उसके साहित्य से भी बहुत-कुछ लिया है। अँग्रेजों से जहाँ हमने कोट पैण्ट पहिनना और चाय पीना सीखा है वहाँ उनकी भाषा अँग्रेजी तथा उसके साहित्य की बहुत-सी विशेषताओं को भी अपना लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुसलमान और अँग्रेज भी हमसे प्रभावित हुए हैं और हो रहे हैं। इस प्रकार प्रभाव-चक्र सदैव घूमता रहता है।

मुसलमानों के आक्रमण के समय मध्य देश की भाषा शुद्ध हिन्दी थी, उसमें जहाँ-तहाँ प्राकृत एवं अपभ्रंश की भी छाप रहती थी। मुसलमानों के यहाँ आ-बसने पर हिन्दी भाषा एवं साहित्य दोनों पर प्रभाव पड़ा। फ़ारसी ने हिन्दी को खूब प्रभावित किया; क्या भाव, क्या रचना-शैली—सभी फ़ारसी रंग में रंग गए।

भाव-क्षेत्र में फ़ारसी ने तीन प्रधान रूप धारण किए। हिन्दी-काव्य के कोमलता के भाव ने नाज़ुकता का रूप धारण किया। कोमलता की पराकाष्ठा को नाज़ुकता कहते हैं। नाज़ुकता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि हिन्दी के कवियों ने बुरी तरह उसका पल्ला पकड़ा। आज तक वही प्रभाव चला आ रहा है। जायसी, बिहारी, मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक कवियों ने बहुत सुन्दर ढंग से इस भाव का अभिव्यंजन किया है। जायसी का एक नमूना देखिये—

मकरिक तार तेहि कर चीरू।
सो पहिरै छिरि जाइ सरीरू॥

इस उक्ति को कुछ लोग कदाचित् अस्वाभाविक कहेंगे क्योंकि मकड़ी के तार से बने हुए वस्त्र से शरीर कभी नहीं छिल सकता। ठीक है, परन्तु उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि कविता रस के उद्रेक के लिये अतिरंजना का सहारा लेती है। कवि के 'मुखचन्द्र' कहने पर भी तो उस पर यही दोष लगाया जा सकता है। मुख वस्तुतः चन्द्रमा कभी नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि कवि कुछ-न-कुछ अतिरंजना अवश्य करता है। काव्य का इसी में महत्व है। हाँ एक बात है; कवि की अतिरंजना मजाक की हद तक न पहुँच जाय। बिहारी का भी इस भाव का एक नमूना लीजिए—

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकत हिये गुलाब के झवा झवावति पाइ॥

वर्त्तमान कवि मैथिलीशरणजी गुप्त 'साकेत' में सीताजी का चित्रण करते हुए कहते हैं—

रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती।
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती॥

'लंक का लच जाना' नाजुकता की ओर संकेत करता है। सीताजी सरीखी सती साध्वी महिला को साधारण नायिका के रूप में चित्रित करना उचित नहीं है।

फारसी-प्रभाव का दूसरा रूप दूर की सूझ है। फारसी साहित्य में दूर की सूझ बहुत पाई जाती है, जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाये जाते हैं। वियोगिनी की आहों से आकाश का नीला हो जाना, वियोगिनी के आँसुओं से समुद्र का खारा हो जाना, विरह की अग्नि से सुलगते हुये शरीर के धुँए से कौओं का काला हो जाना इत्यादि भावनाएँ फारसी साहित्य की हैं जिनको हिन्दी-वालों ने अपना लिया है। जायसी की नागमती भौंरे अथवा कौवे से अपने प्रियतम के पास समाचार भेजती हुई कहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई तेहि के धुआँ हम लाग॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की उक्तियों में सच्चे काव्य के दर्शन नहीं हो सकते। इसनें अस्वाभाविकता ने मजाक का रूप धारण कर लिया है, काव्य को विकृत कर दिया है। बिहारी ने भी विरह-वर्णन में दूर की सूझ का बहुत प्रयोग किया है। जायसी में तो यह प्रवृत्ति अधिक नहीं पाई जाती। यत्र-तत्र ही उन्होंने इस भद्दी रुचि का परिचय दिया है, पर बिहारी का तो विरह-वर्णन इससे ओत-प्रोत है। देखिये—

इत आवत चलि जात उत, चली छ सातक हाथ
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासनि साथ॥

एक स्थान पर तो बिहारी माह के महीने में वियोगिनी की आहों से लू तक चला देते हैं।

फारसी का तीसरा प्रभाव वीभत्सता का समावेश है। फारसी-साहित्य में कोमल भावनाओं के साथ वीभत्सता का संसर्ग खटकता है। जैसे—शृङ्गार-रस के वर्णन में नायिका की नजर से नायक के शरीर में घाव हो जाना अथवा नायक के वियोग में नायिका का सूखकर हड्डियों की ठठरी बन जाना। इस

प्रकार की उक्ति से प्रेम की कोमल भावना पर एकदम कुठाराघात होता है। अच्छा हुआ वीभत्सता का प्रभाव हिन्दी के अधिक कवियों पर नहीं पड़ा। कुछ थोड़े से कवियों की रुचि ही इस कुरुचि-पूर्ण प्रवृत्ति की ओर गई। जायसी तो मुसलमान थे ही। अतः वे इससे बच ही न सके। उन्होंने इसको अपने काव्य में कई जगह स्थान दिया है। जैसे—

हाड़ भए सब किंगरि, नसें भईं सब ताँति।

यहाँ पर हाड़ों का किंगरि हो जाना या नसों का ताँत हो जाना वीभत्सता का संचारक है।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों—सूर और तुलसी पर फारसी की उक्त प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उनकी रचनाओं में कहीं भी नाजुकता, दूर की सूझ अथवा वीभत्सता का नमूना देखने को नहीं मिलता। कहना न होगा कि सूर और तुलसी का हृदय हिन्दू-संस्कृति में पूर्णतः रंगा हुआ था। उन पर कोई विदेशी रंग नहीं चढ़ सकता था। यही कारण है कि उनके काव्य की अन्तरात्मा शुद्ध भारतीय है। हाँ, काव्य के वाह्य रूप पर अवश्य विदेशी प्रभाव न पड़ा था। यह कहना अधिक बुद्धि-संगत होगा कि उन्होंने जान-बूझकर अपनी कविता के बाहरी रूप में फारसी की झलक दिखलाई, उसमें फारसी शब्दों को प्रयुक्त किया। ऐसा करना उस समय की दशा के अनुसार आवश्यक था। जिस समय सूर और तुलसी का आविर्भाव हुआ उस समय हिन्दी-भाषा बहुत कुछ फारसी साँचे में ढल चुकी थी। मुसलमानों के शासन के कारण फारसी-मिश्रित हिन्दी का जन-समुदाय में प्रचार था। शुद्ध हिन्दी को समझने या बोलनेवाले थोड़े थे। इन महात्माओं का उद्देश्य अपनी वाणी को प्रत्येक मनुष्य के हृदय तक पहुँचाना था। अतः ये फारसी मिश्रित बोलचाल का रूप लेकर आगे बढ़े।

जिस प्रकार फारसी का हिन्दी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार भाषा पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के पद्य-साहित्य में तो भाषात्मक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित रहा है, पर गद्य-साहित्य में वह वाक्य-विन्यास में भी प्रविष्ट हो गया है। कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं

में फारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया है। पद्माकर की कविता का यह नमूना देखिये—

गुलगुली गिल में, गलीचा हैं, गुणीजन हैं,
चाँदनी है, चिक हैं, चिरागन की माला हैं।

इस प्रकार फारसी-शब्दों के बाहुल्य से भाषा का स्वरूप विकृत हो गया है। गद्य में जहाँ तशरीफ, जिन्दगी, कौम, मकसद आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है वहाँ 'क्या पड़ी है आपको', 'नौकर से कहा उसने', 'जाइए आप' सरीखे वाक्य भी देखने को मिलते हैं।

भाषा के अतिरिक्त फारसी के बह्रों का भी हिन्दी ने सहारा लिया है। खुसरो, नजीर (अकबराबादी), इंशाअल्लाखाँ, भारतेन्दु हरिचश्न्द्र आदि ने फारसी के छन्दों में रचनाएँ की हैं। नजीर का कृष्णलीला का यह पद्य देखिए—

वां कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ पापी ने झट गेंद डंडा उस कालीदह में फैंक दई ॥
यह लीला है उस नन्दललन मनमोहन जसुमति-छैया की।
रख ध्यान सुनों दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की ॥

भारतेन्दुजी से लेकर आज तक कविगण बह्रों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं।

रचना-शैली में जो चुलबुलाहट, विनोद, व्यंग्य और वक्रता आजकल के कतिपय लेखकों में मिलती है उसका बहुत कुछ श्रेय फारसी को है। फारसी या उर्दू के संसर्ग के ही कारण हिन्दी में ये विशेषताएँ आई हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो लेखक उर्दू या फारसी-साहित्य का ज्ञान रखते हैं उनके हिन्दी में ये गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य पर फारसी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। विदेशी प्रभाव के सम्बन्ध में इतना जान लेना चाहिए कि हम सदैव नीर-क्षीर विवेक से किसी विदेशी भाषा की अच्छाइयों

को ग्रहण करने और बुराइयों को अपनी भाषा में प्रविष्ट न होने देने के लिए सतर्क रहें। तभी हमारी भाषा और साहित्य का कल्याण हो सकता है, तभी हमारा साहित्य संसार में उच्च स्थान पाने का अधिकारी हो सकता है।

साहित्य समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी होता है

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य का स्वरूप
(२) साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध
(३) साहित्य समाज का अनुगामी होता है, हिन्दी-साहित्य से इसकी पुष्टि
(४) साहित्य समाज का संचालक भी होता है, हिन्दी-साहित्य से इसकी पुष्टि
(५) उपसंहार—निष्कर्ष

'साहित्य समाज का दर्पण है।' इस उक्ति के अनुसार साहित्य में समाज का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है, साहित्य में समाज की विशेषताओं का दर्शन होता है। जिस युग में समाज का जैसा स्वरूप होता है उस युग के साहित्य का भी वैसा ही स्वरूप हो जाता है। साहित्य समाज के अनुसार रूप बदलता रहता है। यदि किसी युग में समाज का जीवन नैराश्यपूर्ण रहा तो उस युग के साहित्य में करुणा रस की प्रधानता पाई जायगी। यदि कभी समाज में लड़ाई-भिड़ाई की अधिकता रही तो साहित्य वीर रस प्रधान होगा। यदि कभी समाज विलासिता के गर्त में डूबा तो साहित्य में शृंगार रस की उद्भावना होगी। अर्थात् समाज सदैव साहित्य को प्रभावित करता रहता है।

पर समाज साहित्य से प्रभावित भी होता है। मैथ्यूआर्नल्ड नामक विद्वान का कथन है—The poet and the age react upon each other. अर्थात् कवि और युग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, कवि और समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जो बात कवि के सम्बन्ध में सत्य है वही साहित्यकार के सम्बन्ध में सत्य है। सच तो यह है कि साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य समाज पर और समाज साहित्य

पर अपना प्रभाव डालता है। साहित्य समाज का और समाज साहित्य का अनुगामी होता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि साहित्य समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी होता है।

प्रथम तथ्य की पुष्टि हम हिन्दी-साहित्य से करेंगे और बतलायेंगे कि किस प्रकार साहित्य समाज का अनुकरण करता आया है। सर्व प्रथम वीर गाथा—काल को लीजिए। यह काल लड़ाई-भिड़ाई का था। देश पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। उनको रोकने के लिए राजपूत अवरोधात्मक युद्ध करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य-विस्तार और परकन्या अपहरण के लिए भी वे आपस में लड़ते थे। देश में उस समय चारों ओर तलवारों की खपाखप सुनाई पड़ती थी। फलतः वीरगाथा-काल का साहित्य युद्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। उसमें राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन है। उसमें वीर रस के साथ गौण रूप में शृंगार को भी स्थान मिला है।

अब भक्तिकाल की ओर आइए। जब मुसलमानों ने एक-एक करके राजपूत राजाओं को पराजित करके भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तब हिन्दू-समाज की दशा बदली। मुसलमान शासकों के अत्याचारों से हिन्दुओं का जीवन कंटकाकीर्ण हो गया। उनको पग-पग पर मुसलमानों से अपमानित होना पड़ता था। अतः वे निराशा के गर्त में डूबने लगे और उनको जीवन में चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देने लगा। ऐसी दशा में उनका ध्यान राम-कृष्ण की भक्ति की ओर गया। उनको आशा हुई कि जिस प्रकार राम ने रावण का वध करके तथा कृष्ण ने कंस का मद चूर्ण करके समाज की रक्षा की थी उसी प्रकार किसी दिन मुसलमानों से उनका उद्धार भी होगा। फलतः भक्तिकाल का साहित्य भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत होने लगा।

अब रीति-काल को लीजिए। धीरे-धीरे हिन्दुओं के दिन फिरे और मुसलमान उनके साथ सद्व्यवहार करने लगे। अब दुःख का स्थान सुख ने ले लिया। "दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोइ" के अनुसार

अब हिन्दू भक्ति को छोड़ बैठे। मुगल बादशाह शाहजहाँ और जहाँगीर ने विलासिता की हद कर दी। उनके आधीन हिन्दू राजे भी विलासी एवं अकर्मण्य थे। "यथा राजा तथा प्रजा" के अनुसार जनता भी विलासिता के सागर में निमग्न हो गई। फलतः रीति-काल का साहित्य कलुषित प्रेम की उन्मादकारिणी उक्तियों से भरने लगा। राधा और कृष्ण की ओट में कविगण वासनामय प्रेम की उद्भावना करने लगे। श्रृंङ्गार रस मानो गंदी नालियों में प्रवाहित होने लगा।

अब आधुनिक काल पर दृष्टिपात कीजिए। आजकल सामाजिक कुरीतियाँ समाज की जड़ें खोखली कर रही हैं। बेकारी की समस्या ने जीवन नीरस बना दिया है। नारी की दीन दशा है। हरिजनों के प्रति अत्याचार हो रहे हैं। किसानों और मजदूरों को भरपेट भोजन नहीं मिल रहा है। पूँजीवाद का बोलवाला है। इन सभी विशेषताओं का प्रतिबिम्ब साहित्य पर पड़ रहा है। तभी तो इस प्रकार की उक्तियाँ देखने को मिल रही हैं :—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी

"वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें।"

अब द्वितीय तथ्य की पुष्टि भी हिन्दी साहित्य से करते हुए हम यह बतलाएँगे कि किस प्रकार साहित्य समाज का संचालक भी बनता आया है, किस प्रकार साहित्य-समाज की गति को मोड़ भी देता आया है, किस प्रकार साहित्य समाज की रूढ़ियों का खंडन करता हुआ उसका पथ-प्रदर्शन भी करता आया है। भक्ति-काल को लीजिए। कबीर की वाणी ने सामाजिक जाति-पाँति एवं धार्मिक मूर्ति-पूजा रूढ़ियों का, कुरबानी (हिंसा)

आदि का, खंडन किया। कुरबानी के लिए मुसलमानों को फटकारते हुए उन्होंने कहा—

"दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह वंदगी, कैसे खुशी खुदाय ॥"

मूर्ति-पूजा के लिये हिन्दुओं को फटकारते हुए उन्होंने कहा :—

"दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर को चकिया कोउ न पूजे जाको पीसा खाय ॥"

गोस्वामी तुलसीदास ने तो हिन्दू-समाज में वर्णाश्रम की व्यवस्था की, समाज में फैली हुई मर्यादा-हीनता का अंत किया और शैवों एवं वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को रोका। वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता देखकर उनकी आत्मा को कष्ट हुआ और उसको लक्ष्य करके उन्होंने कहा—

"वादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुम तें कुछ घाटि ?
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि ॥"

बालि ने अपने अनुज सुग्रीव की स्त्री को अपनी पत्नी बनाया और काकभुशुंड ने अपने गुरु को प्रणाम नहीं किया। इस मर्यादा हीनता के लिए क्रमशः राम और शिव ने उनको दण्डित किया। संत-कवियों की बानी में लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। गोस्वामीजी ने देखा कि यदि लोकधर्म की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो जनता की चित्तवृति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज उच्छृंखल हो जायगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। अतः उन्होंने लोक-धर्म की रक्षा की। शैवों और वैष्णवों के समाज-विघातक विद्वेष को उन्होंने रामभक्ति में हिन्दू-धर्म के सब पक्षों का सामंजस्य करके समाप्त किया। स्वयं भगवान् राम के मुख से कहलवा दिया :—

"शिव द्रोही मम दास कहावै। सो नर मोहि सपनेहुँ न भावै ॥"

आधुनिक साहित्य भी समाज का संचालक बन रहा है, समाज के विचारों में परिवर्तन कर रहा है। सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात करता हुआ और कृषकों एवं श्रमिकों की दयनीय दशा का दिग्दर्शन कराता हुआ वह

समाज को सुधार की ओर अग्रसर कर रहा है। यहाँ तक कि इस प्रकार की रचनाओं ने साहित्य में 'प्रगतिवाद' को जन्म दिया है।

निष्कर्ष यह है कि साहित्य और समाज में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालता है। साहित्य अपनी छाप समाज पर लगाता है और समाज साहित्य पर। साहित्य समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है और समाज साहित्य से। पर यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि साहित्य में समाज का अन्धानुकरण ही होता है। साहित्यकार समाज का अनुगामी ही नहीं संचालक भी होता है।

हिन्दी-साहित्य में नारी

रूपरेखा—

(१) प्रस्तावना—नारी का महत्व
(२) वीरगाथा कालीन साहित्य में नारी
(३) भक्तिकालीन साहित्य में नारी
(४) रीति कालीन साहित्य में नारी
(५) आधुनिक कालीन साहित्य में नारी
(६) उपसंहार—मूल्यांकन

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" के अनुसार जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। निस्संदेह जिस गृह, जिस समाज जिस जाति, जिस राष्ट्र में नारी की प्रतिष्ठा होती है उस गृह, उस समाज, उस जाति, उस राष्ट्र, में सुख एवं शांति विराजती है। वास्तव में नर और नारी दोनों मिलकर जीवन की इकाई हैं। "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" के अनुसार जिस प्रकार वाणी और अर्थ को तथा जल और लहर को भिन्न कहा जा सकता है और नहीं भी कहा जा सकता है, उसी प्रकार नर एवं नारी को भिन्न कहा जा सकता है और नहीं भी कहा जा सकता है। नर के बिना नारी का और नारी के बिना नर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण

है। विवाह नामक संस्कार दोनों को एक सूत्र में पिरो देता है और इस प्रकार जीवन की इकाई स्थापित करता है। इसके द्वारा दो आत्माओं का सम्मिलन होता है जिससे पारस्परिक सहयोग एवं सहाय्य द्वारा आत्मोन्नति की जा सके। गार्हस्थ्य जीवन की सुचारुता के लिए यह आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है कि नर और नारी का सम्बन्ध जोड़ा जाय। केवल सम्बन्ध जोड़ना ही पर्याप्त नहीं है उसकी संरक्षा भी वांछनीय है। इसका ध्यान नर और नारी दोनों को ही रखना होगा। दोनों का जीवन एक दूसरे पर निछावर हो। दोनों में समानता का व्यवहार हो।

साहित्य समाज का दर्पण है। अतः जिस युग के समाज में नारी को जो स्थान मिला उस युग के साहित्य में वह उसी रूप में चित्रित की गई। वीरगाथा काल लड़ाई-भिड़ाई का समय था। भारतवर्ष पर उस समय मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। उनको रोकने के लिए राजपूत अवरोधात्मक युद्ध करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य-विस्तार तथा परकन्या-अपहरण के लिए भी राजपूत आपस में लड़ते थे। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर उसका अपहरण करने के लिए दल-बल के साथ उसके संरक्षक पर आक्रमण करना उस समय की प्रथा थी। उस समय की नारी अपने पति को रणक्षेत्र में भेजने में गौरव का अनुभव करती थी और यदि उसका पति पराजित होकर घर लौट आता था तो वह लज्जित होती थी। अतः वीरगाथा कालीन साहित्य में नारी का चित्रण एक ओर तो शृंगार रस के आलम्बन रूपवती रमणी के रूप में हुआ है और दूसरी ओर वीरांगना के रूप में देखिए —

"मनहु कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससिता समीप अम्रित रस पिन्निय॥"

यहाँ पदमावती के रूप का वर्णन किया गया है।

"भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसि अहु जइ भग्गा घरु एंतु॥"

यहाँ नारी का वीरांगना के रूप में चित्रण हुआ है। भाव यह है कि हे बहिन ! अच्छा हुआ जो हमारा पति मारा गया, क्योंकि यदि वह भाग कर घर आता तो मैं अपनी सहेलियों में लज्जित होती।

भक्ति कालीन साहित्य में एक ओर नारी को वासना की मूर्ति समझकर उसका निकृष्ट रूप चित्रित किया गया है तो दूसरी ओर सती-साध्वी देवी समझकर उसका उत्कृष्ट रूप चित्रित हुआ है। अलौकिक पक्ष में उसे परमात्मा के प्रतीक रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। कंचन और कामिनी से संतों को घृणा होती है। वे इनको साधना के मार्ग में बाधक समझते हैं। तभी तो कबीर ने कह डाला—

"नारी की झाँई परत, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी को संग ॥"

ज्ञानाश्रयी शाखा के सभी कवियों की लेखनी ने नारी का इसी प्रकार का भद्दा चित्र अंकित किया है।

प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने अलौकिक पक्ष में नारी को परमात्मा के प्रतीक रूप में भी स्थान दिया है। जायसी ने पद्मिनी को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसके सौंदर्य का जो अनुपम वर्णन किया है वह पाठक को सौंदर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है। नमूना देखिए—

"सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई ॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झांपि लीन्ह चहुँ पासा ॥
ओ नई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा ॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा ॥"

रामभक्ति शाखा के कवियों ने नारी के निकृष्ट एवं उत्कृष्ट दोनों ही रूप प्रस्तुत किए हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ एक ओर सीता, कौशल्या एवं मन्दोदरी के चरित्र-चित्रण द्वारा नारी का सती-साध्वी रूप प्रस्तुत किया है वहाँ दूसरी ओर मंथरा एवं कैकेयी के चरित्र-चित्रण द्वारा उसका निकृष्ट रूप भी प्रस्तुत किया है। दोनों स्वरूपों की झाँकी कीजिए—

"जौं मन बच क्रम मम डर माहीं। तजि रघुबीर ग्रान गति नाहीं ॥
तो कृसानु सबकै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना ॥"

यह थी सती सीता की अग्नि परीक्षा। अब नारी का निकृष्ट चित्रण देखिए—

"विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥"

कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने एक ओर राधिका और गोपियों के माध्यम द्वारा नारी के दाम्पत्य प्रेमासिक्त हृदय का उद्घाटन किया है। तो दूसरी ओर यशोदा के माध्यम द्वारा नारी के वात्सल्य प्रेमासिक्त हृदय का चित्र खींचा है। कहीं भी उसमें वासना या उन्माद की दुर्गन्ध नहीं है वह सात्विक प्रेम का सच्चा स्वरूप है। देखिए :—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस रितु हम पर, जबतें स्याम सिधारे ॥"

विरहिणी गोपिकाओं की यह उक्ति कितनी मर्मस्पर्शी है! अब माता यशोदा द्वारा बालकृष्ण का मनाना देखिए—

"काहे कों आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी।
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी ॥"

रीति कालीन साहित्य में नारी का उन्मादकारी वासनामय रूप ही देखने को मिलता है। तत्कालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की वासना को तृप्त करने के लिए ही नारी का प्रयोग किया। फलतः साहित्य में अश्लील रचनाएँ भी हुईं। नखशिख एवं षट्ऋतु वर्णनों, बारह-मासों संयोग तथा वियोग की कलुषित उक्तियों की बाढ़-सी आ गई। एक नमूना लीजिए—

"ननद निनारी, सांसु माय के सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत फैन, लाग्यो मेघ झरु है ॥
संग न सहेली वैस नवल अकेली,
तनपरी तलबेली महा, लाग्यो मैन सरुत है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है ॥"

आधुनिक काल में आकर नारी को साहित्य के परम्परागत वन्धन से मुक्ति मिली है। उसके वास्तविक स्वरूप को कवियों एवं लेखकों ने पहचाना है। उन्होंने उसकी दयनीय दशा पर आंसू वहाये हैं और समाज में उसको प्रतिष्ठा का स्थान प्रदान करने का समर्थन किया है। देखिए सुमित्रानंदन पंत की यह उक्ति :—

"मुक्त करो नारी को मानव, चिर वन्दिनि नारी को।
युग-युग की निर्मल कारा से, जननि, सखी, प्यारी को॥"

मैथिलीशरण गुप्त की निम्नांकित उक्ति भी दर्शनीय है :—

"अवला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

जहाँ कवियों ने नारी को समाहृत करने का प्रयास किया है वहाँ आधुनिक कालीन लेखकों ने भी अपने नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों के माध्यम द्वारा उसके सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। आज के साहित्यकार नारी को नर के समान स्थान देकर उसको नर की योग्य सहचरी वनाना चाहते हैं। अतः नारी को शिक्षा, सम्पत्ति, विवाह, जीविकोपार्जन आदि के समानाधिकार दिलाने के लिए वर्तमान साहित्य आंदोलन कर रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि हिन्दी के प्राचीन साहित्य में नारी को प्रधानतः शृङ्गार रस की सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया गया। वह नर के मनोरंजन की वस्तु बनकर रह गई। उसके अंग-प्रत्यंगों, उसकी चेष्टाओं, उसकी मानसिक दशाओं, उसके रूप-माधुरी का वर्णन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ। इससे नारी के व्यक्तित्व का पतन तो हुआ ही, साथ में समाज का भी पतन हुआ। यद्यपि नारी और नर के प्रेम-सम्वन्ध का चित्रण साहित्य के लिए वर्जित नहीं होना चाहिए तथापि साहित्य का उसी तक सीमित रहना खटकता है। साहित्यकार को तो समूचे मानव-जीवन का ऐसा चित्र उपस्थित करना चाहिए जो समाज के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरम् हो।

———

जीवन में साहित्य की उपयोगिता

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य के ध्येय के विषय में मत-भेद—कलावाद और उपयोगितावाद
(२) कलावाद की परीक्षा
(३) साहित्य और जीवन का सम्बन्ध
(४) संसार की सभी वस्तुओं का उपयोगी होना
(५) साहित्य का उपयोग
(६) कलावाद का वर्त्तमान की विलायती उपज होना
(७) साहित्य को किसानों और मजदूरों के जीवन से सम्बन्धित करने का प्रश्न
(८) उपसंहार—सारांश

साहित्य के ध्येय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई साहित्य को साधन मानते हैं और कोई साध्य। ये ही दो प्रधान धारणाऐं हैं, जिनमें प्रति दिन संघर्ष बढ़ता जा रहा है। साहित्य को किसी साध्य का साधन मानना उपयोगिताबाद कहलाता है और साध्य मानना कलावाद। कलावादियों का सिद्धान्त है—Art is for art's sake. अर्थात् 'कला कला ही के लिये है।' वे कला का उद्देश्य कला ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि साहित्य कला की उपासना के लिए है, जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। साहित्य का जीवन से, जगत् से, कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसके विरुद्ध उपयोगितावादियों का कथन है कि साहित्य जीवन की व्याख्या द्वारा मानव-समाज का उद्धार करता है, यही उसका ध्येय है। ऐसा साहित्य जो जीवन की समस्याओं का उद्‌घाटन नहीं करता, जीवन की दिशाओं का चित्रण नहीं करता, बल्कि पंख लगाकर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' उक्ति को चरितार्थ करता हुआ नक्षत्र, लहर और कलिकाओं से सम्बन्धित अनूठी उक्तियों से साहित्य को भरता रहता है, प्रकृत साहित्य नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न उठता है कि कलावाद और उपयोगित्तावाद में से कौन-सा ठीक है ? क्या सचमुच साहित्य का साध्य साहित्य ही है ? क्या जीवन से साहित्य का कुछ भी सम्बन्ध नहीं ? क्या साहित्य वास्तव में जीवन से अलग

रह सकता है ? साहित्यकार एक जीवधारी व्यक्ति है । उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह साहित्य-रूप में समाज की भेंट कर देता है । अतः स्पष्ट है कि साहित्य जीवन से पूर्णतया सम्वन्धित है । हड्सन ने भी कहा है—"Poetry is made out of life, belongs to life, exists for life." अर्थात् काव्य जीवन से उत्पन्न होता है, जीवन के आश्रित रहता है और जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है। उसमें जीवन-सम्बन्धी बातों का विवेचन रहता है। वह जीवन की विस्तृत टिप्पणी है ।

जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ साहित्यकार जीवन के भीतरी तत्वों के उद्घाटन से अपने को अलग नहीं रख सकता । मानव-समाज के उद्धार के लिए किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-सिद्धान्तों का उल्लेख वह करता ही है । जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही । नीति और जीवन का सम्वन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता । अतः नीति भी साहित्य से अलग नहीं हो सकती । मैथ्यूआर्नल्ड नामक एक सुप्रसिद्ध समालोचक का उसके एक अंग कविता के विषय में कथन है—"Poetry is at bottom a criticism of life ; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question : How live to × × × × ? A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life ; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life." अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है । कवि का महत्त्व अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन के प्रश्न पर लागू करने में है । वह कविता जो नीति का विरोध करती है, जीवन का भी विरोध करती है । वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है, जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है ।

संसार में कोई वस्तु निरुद्देश्य नहीं, कोई वस्तु उपयोगिता-रहित नहीं । तो यह कब सम्भव है कि साहित्य उपयोगिता से परे रह सके ? सच्चे साहित्य

में मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा किया जाता है, आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाये जाते हैं, अनुकरणीय चरित्रों की उद्भावना की जाती है। इस प्रकार का साहित्य-सृजेता अपना उद्धार तो करता ही है, पर साथ ही समाज का भी उद्धार कर देता है। जिस कार्य के सम्पादन में सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं हो सकते, उसको वह अकेला ही पूरा कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे ही साहित्य प्रणेता थे। उनके 'रामचरितमानस' में जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और मर्यादा के साथ साहित्य का दिव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है। तुलसी के मानस द्वारा हिन्दू जाति का कितना उपकार हुआ है—यह बतलाना शब्द की शक्ति से परे है। यदि गोस्वामीजी अपने साहित्य में नीति और मर्यादा का स्वर्ण-संयोग न करते, तो क्या यह उपकार सम्भव था ? कदापि नहीं। नीति ही साहित्य का प्राण है, पर कला-वादी लोग साहित्य और नीति के क्षेत्र पृथक्-पृथक् मानते हैं। यह उनकी भूल है। यदि साहित्य और नीति में सम्बन्ध नहीं है तो फिर क्या साहित्य का अस्तित्व मनोरंजन के लिए ही है ? यदि हाँ, तो नाचने और गाने के समान साहित्य भी विलास की सामग्री ठहरता है।

कलावादी साहित्यकार जगत् की चिंताओं से छुटकारा पाने के लिए क्षितिज के उस पार सुनहले स्वप्निल संसार का सृजन करते हैं। उनके पंख इस भू-तल पर नहीं टिकते। वे सदैव अतीन्द्रिय जगत् में उड़ते रहते हैं। कल्पना की उड़ान भरते रहते हैं। उनकी रचनाओं से समाज को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता नहीं। हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए, जो हमारे समाज की, हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, जीवन की समस्याओं को सुलझाने में हमारी सहायता करे। हमें तो आज ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो देश के प्रत्येक व्यक्ति को नीति और सदाचार का पाठ पढ़ाए। हमें तो आज ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो समाज की बुराइयों को दूर करे। कलावादी लोग कहेंगे कि इस प्रकार का साहित्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। किसी लक्ष्य को रखकर यदि साहित्य-रचना की जायगी तो वह निकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकती। किन्तु यह ठीक नहीं है। साहित्य

की कसौटी उसका अधिक काल तक जीवित रहना है। जो साहित्य जितने अधिक समय तक संसार में जीवित रहेगा, वह उतना ही उच्च कोटि का होगा। निकृष्ट कोटि की रचना बरसाती मेंढ़कों की भाँति थोड़े समय तक रहकर नष्ट हो जाती है। यों तो समय के साथ सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता ही रहता है। पर कुछ तत्व ऐसे हैं जो सदैव एक रूप में रहते हैं। उन्ही के कारण श्रेष्ठ साहित्य का महत्त्व कभी कम नहीं होता है। यह देखा गया है कि जितने भी प्राचीन साहित्य आज तक समादृत हैं, वे सभी जीवन और जगत् से सम्बन्धित हैं। वाल्मीकि, तुलसी, सूर आदि कवियों की रचनाएँ इतना अधिक समय व्यतीत होने पर भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। क्यों? समाज में अपनी उपयोगिता के कारण। यदि समाज के लिए कोई साहित्य उपयोगी न होगा, तो स्वभावतः वह अधिक दिन तक जीवित न रह सकेगा। समाज तो ऐसी ही रचना को महत्व देता है और देता रहेगा, जिससे उसको लाभ पहुँचे। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावादी साहित्य ही उच्च कोटि का होता है। कलावादी साहित्य से समाज को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता। अतः उसे निकृष्ट कोटि में स्थान मिलना चाहिए।

कलावाद वर्त्तमान काल की विलायती उपज है। इधर कुछ दिनों से ही साहित्य-क्षेत्र में इसका शंखनाद होने लगा है। प्रायः नवयुवक साहित्यकार ही इसके अन्ध-भक्त हैं। वे ही निराली दुनियाँ की रचना कर रहे हैं। वर्त्तमान साहित्य में कलावाद का नग्न रूप देखने को मिल रहा है। हिन्दी के कतिपय कवि इसका रूप अपने काव्य में रखने लगे हैं। हमारे पं० सुमित्रानन्दन पंत की 'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी,
तुम तरु के नीचे सोई!
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि! नल-सा निष्ठुर कोई!

× × × ×

गूढ़-कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय—सी,
ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी,
बच्चों के तुतले-भय-सी ।

इनमें कल्पना की करामात के अतिरिक्त क्या जीवन की किसी दशा का चित्रण है ? प्राचीन-काल का काव्य तो सम्पूर्ण उपयोगितावादी ही है। वीरगाथा-काल के कवि जनता के हृदय में वीरोत्साह का उद्रेक करने के लिए रचना करते थे। उस समय काव्य का यही उपयोग था। भक्ति-काल के काव्य का उपयोग सर्व-साधारण में भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचार था। रीति-काल का काव्य कवियों के आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की विलास चेष्टाओं के उद्दीपन का साधन था। आधुनिक काल के अधिकांश साहित्य का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियों का खंडन तथा देश की परतन्त्रता का निराकरण है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त अपने काव्य में एक स्थान पर स्त्रियों के प्रति पुरुषों के अन्याय का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—

"नर-कृत शास्त्रों के सब बन्धन
हैं नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर।"

श्री वियोगीहरि अछूतोद्धार का पृष्ठ-पोषण करते हुये कहते हैं—

"सुरसरि औ अंत्यज दुहूँ; अच्युत-पद-संभूत ।
भयौ एक क्यों छूत औ, दूजौ रह्यौ अछूत ।।"

उपयोगितावादी आजकल एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठा रहे हैं। उनका कहना है कि किसानों और मजदूरों के लिए साहित्य-रचना की जाय। साहित्यकार किसानों और मजदूरों के जीवन को साहित्य का विषय बनावें, उनके सुधार के लिए साहित्य का उपयोग करें, उनकी आवश्यकताओं का साहित्य में दिग्दर्शन करावें और शिक्षित समुदाय का ध्यान गाँवों की ओर आकृष्ट करें। निस्सन्देह यह वांछनीय है। किन्तु यह कहना, कि साहित्य

को किसानों और मजदूरों के समझने के लिए नीचे धरातल पर ले आना चाहिए, ठीक नहीं प्रतीत होता। हमें साहित्य को नीचे न गिराकर किसानों और मजदूरों को ही शिक्षित करके साहित्य की सतह तक पहुँचाना चाहिए।

अन्त में, यही कहना है कि साहित्य को हमें मानव-समाज का उद्धार करने वाला एक साधन समझना चाहिए, साध्य नहीं। साहित्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। पहला दूसरे के सुधार में, दूसरे को ऊँचा उठाने में, सदैव प्रयत्नशील रहेगा। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत' नामक महाकाव्य में कला पर विचार प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है—

"हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।"

लोकप्रिय साहित्य का रूप

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य-रचना का उद्देश्य
(२) साहित्य जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित हो
(३) उसमें मानव-जीवन की नीति तथा मर्यादा समन्वित झाँकी हो
(४) वह देश और काल का प्रतिनिधित्व करता हो
(५) उस पर सभ्यता एवं संस्कृत की छाप हो
(६) उसमें भाव और कल्पना का समुचित योग हो
(७) उसमें वास्तविकता का समावेश हो
(८) उसमें सादगी हो
(९) उपसंहार—लोकप्रिय साहित्य का प्रभाव

लोकप्रिय साहित्य का रूप क्या हो, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि साहित्य-रचना क्यों की जाती है, उसका क्या

उद्देश्य होता है। व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाय तो साहित्य सृजन साहित्यकार की स्वात्मा की संतुष्टि के हेतु होता है। तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषा निवन्ध मति मंजुल मातनोति।

जव साहित्यकार के हृदय-समुद्र का वाह्य परिस्थितियों द्वारा मंथन होता है तब उसमें भाव-लहरें उठने लगती हैं। उस समय वह उन्हें व्यक्त करने के लिए विकल हो जाता है। फलतः साहित्य का सृजन होता है। सामाजिक दृष्टि से देखा जाय तो साहित्य-रचना का उद्देश्य समाज का कल्याण करना है। साहित्य में समाज का प्रतिविम्ब देखा जाता है। साहित्य समाज का दर्पण है। सत्-साहित्य समाज का रूप अंकित करता हुआ उसमें सुधार की योजना करता है। उसके निर्माता की पैनी दृष्टि समाज के विविध अङ्गों का, समाज की व्यवस्था का भली-भाँति निरीक्षण करती है और वहाँ जो कुछ अभाव दिखलाई पड़ता है उसका भावात्मक सजीव चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करके सुधार का विधान करती है। इस प्रकार सामाजिक कल्याण करने वाला साहित्य अवश्य लोकप्रिय होता है।

लोकप्रिय साहित्य किस प्रकार बने, उसका क्या रूप हो, जिससे उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हो ? लोकप्रिय साहित्य की प्रथम विशेषता यह होनी चाहिए कि वह जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित हो। जीवन के अन्तर्गत मानव-जीवन ही नहीं प्रकृति-जीवन भी सम्मिलित समझना चाहिए। प्रकृति हमारी चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। उससे हम पृथक् नहीं रह सकते। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं प्रत्युत् मानव-जीवन से अधिक है। फूल, पत्ती, पशु, नदी, नाले, निर्झर, खेत, विद्युत् आदि प्रकृति के विभिन्न अंग हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करते हैं। जब हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखते हैं तब उल्लास से भर जाते हैं। जब हम कोयल की पीयूषवर्षी 'कुहू कुहू' सुनते हैं तब आनन्दविभोर हो जाते

प्र० प्र०—१०

हैं। अतः हमारे साहित्य में प्रकृति के जीवन का भी अवश्य प्रतिपादन होना चाहिए—

कुछ दिनों से 'कलावाद' के पुजारियों ने यह विवाद उठाया है कि साहित्य और जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्य एक कला है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। उसे जीवन से क्या काम ? उत्तर में हमें यह कहना है कि साहित्यकार एक जीवधारी व्यक्ति होता है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह साहित्य के रूप में समाज को प्रदान कर देता है। अतः साहित्य की जीवन से पृथक् कोई सत्ता नहीं हो सकती। वह जीवन से पैदा होता है और जीवन के लिए ही पैदा होता है। उसके द्वारा जीवन की विभिन्न समस्याओं का विवेचन और दशाओं का उद्घाटन किया जाता है।

लोकप्रिय साहित्य के लिए यह वांछनीय है कि उसमें मानव-जीवन की नीति तथा मर्यादा-समन्वित झाँकी हो। नीति और मर्यादा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव नीति और मर्यादा-रहित साहित्य उसी प्रकार त्याज्य है जिस प्रकार नीति और मर्यादा-रहित जीवन। जो साहित्यकार अपनी रचना में 'How to live.' अर्थात् जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, यह नहीं वतलाता उसका प्रयास निष्फल है। जो साहित्यकार अपनी रचना में नीति और मर्यादा का ध्यान नहीं रखता वह किस प्रकार समाज का हित-साधन कर सकता है ? इस प्रकार की साहित्य-रचना से किस लोकोपकार की सम्भावना की जा सकती है ? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का साहित्य तो मानव-समाज को रसातल ले जायगा। विश्व में आज तक जिन साहित्यकारों की पूजा हो रही है, उन सभी के साहित्य में पूत भावनाएँ भरी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में नीति और मर्यादा का भव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है।

लोकप्रिय साहित्य देश और काल का प्रतिनिधित्व भी करे वह सार्वभौमिक एवं चिरस्थायी हो, पर उसमें रचना-स्थल और रचनाकाल की विशेषताएँ भी झलकें। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि वह अन्तर्देशीय होते हुए भी देशी हो, सर्व-सामयिक होते हुए भी सामयिक हो। तभी वह समाज

हैं। हमें देखना है कि आज की समस्याओं का कोई हल हम अपने पूर्वजों के तरीके से कर सकते हैं या नहीं। डाक्टर भगवानदास ने लिखा है कि उन्होंने राजनीति की एक ही पुस्तक पढ़ी है और वह है मनुस्मृति। उन्होंने उसी के अध्ययन से आज के बहुत प्रश्नों का उत्तर भी निकाला है और बहुत समस्याओं के हल भी बताए हैं। वे एक बड़े गंभीर विद्वान् हैं। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन तो किया, पर उसके साथ आज की आधुनिक रीति और विचारों से भी वैसा ही प्रगाढ़ परिचय प्राप्त किया है और इस सम्मिश्रण का फल है उनकी लेखनी की उपज! क्या आप आज के प्रश्नों का उत्तर देने में संस्कृत से कुछ सहायता दे सकते हैं? अगर आप दे सकते हैं तो आपकी विद्या सार्थक है, अन्यथा उसके जीवित रहने की संभावना नहीं है—शायद जरूरत भी नहीं है।

इस तरह हम नए और पुराने का सम्मिश्रण करके बहुत कुछ नया पैदा कर सकते हैं। मेरा विश्वास है कि नई समस्याओं के हल करने में हम संस्कृत से बहुत मदद पा सकते हैं। इसीलिए मैं इसका बड़ा पक्षपाती हूँ और मुझे अफसोस होता है कि अपने जीवन में मुझे इस प्रकार की सेवा करने का सौभाग्य और सुअवसर नहीं मिला। जो हो, हम अपनी संतान के लिए तो यह रास्ता अवश्य खोल सकते हैं और प्रशस्त बना सकते हैं।

एक बड़ी बात जिसका असर मेरे हृदय पर बहुत पड़ता रहता है यह है कि हमारी संस्कृति में एक विशेषता है कि हम किसी कठिन से कठिन काम के लिए बहुत सहज और सीधा उपाय निकाल सकते हैं। इसके दो छोटे-छोटे उदाहरण देखने से ही हमारी इस प्रकार की बुद्धि का परिचय हो जाता है। हमारे सूत्रकारों ने थोड़े से थोड़े शब्दों में कितना मसाला भर रक्खा है? एक अत्यंत छोटे यंत्र से, जिसके बनाने में शायद एक अधेला भी खर्च नहीं पड़ता और जिसको कोई अशिक्षित

आदमी भी तैयार कर सकता है, ऐसी चीज़ हम पैदा कर सकते हैं. जिसके मुकाबले की चीज़ संसार के बड़े से बड़े और सूक्ष्म यंत्र अभी तक नहीं बना सके हैं। जिस तकली पर हमारी छोटी-छोटी बच्चियाँ आज भी महीन से महीन सूत कात सकती हैं, उसी पर इतना महीन सूत काता जाता था, जितना महीन सूत आज की आधुनिक मशीन नहीं बना सकी है। पुराना चर्खा भी उसी प्रकार का एक अत्यंत सुलभ यंत्र है और उससे बहुत बड़ा काम हो सकता है और होता था। पर हमने अनुभव से देखा है कि उसमें भी बहुत तरक्की की जा सकती है और जब से हमारे कुछ भाई अपनी बुद्धि और आधुनिक विद्या उसकी तरक्की में लगाने लगे हैं, बहुत कुछ तरक्की हुई भी है। मेरा इसी से विश्वास दृढ़ होता है कि चाहे विद्या के विकास में हो, चाहे क्रियात्मक रूप से संसार के सामने कुछ पैदा करने में—पर अगर अपनी पुरानी रीति को नई रीति से देखें और उसमें संशोधन का प्रयत्न करें तो हम बहुत कुछ कर सकते हैं। जिस तरह आज यूरोपीय विद्या में जितनी चीजें उपलब्ध हैं, उनसे लाभ उठाकर विद्या को आगे बढ़ाने का यत्न किया जाता है, उसी प्रकार हमारी संस्कृत विद्या में जो कुछ मिलता है, उसको लेकर अगर हम उसको आगे बढ़ाने का यत्न करें तो हमको कोई कारण मालूम नहीं होता कि हम उसमें क्यों उन्नति नहीं करेंगे। इसलिए मेरा अनुरोध है है कि इस विषय पर विचार किया जाय और पठन-पाठन की टोली में इस पर ध्यान रखकर जहाँ परिवर्त्तन और परिवर्धन की आवश्यकता जँचे, वहाँ वह किया जाय।

हमारे लिए एक बात और विचारने योग्य है। मेरा अनुमान है कि संस्कृत के पुराने पंडितों का आज की प्रचलित हिंदी भाषा के प्रति प्रेम नहीं है। वे संस्कृत के अध्ययन में इतने लगे रहते हैं कि इसके जानने की आवश्यकता ही नहीं महसूस करते। हमको मानना पड़ेगा कि आधुनिक युग में विद्या सर्वव्यापी है और गूढ़ से गूढ़ चीज़ भी आज छिपाई नहीं

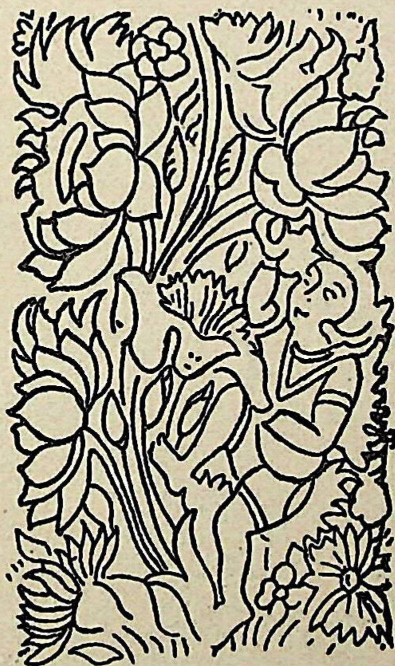
जाती। चाहे यह नीति ठीक हो या गलत, हमें मानना पड़ेगा कि बहुत कुछ तो हमको केवल अपने ही लिए, अथवा मुट्ठीभर विद्वानों के लिए ही, नहीं सीखना या सिखाना है—उसका प्रचार जनता में भी करना आवश्यक है। वह हिन्दी द्वारा ही हम कर सकते हैं और जब विद्वान् लोग हिन्दी पर ध्यान देंगे तभी उसकी उन्नति भी हो सकती है, उसमें वह शक्ति भी आ सकती है, जिसकी जरूरत हम सच मानते हैं। संस्कृत-विद्वानों में भी अब ऐसे लोग निकलते हैं, जिन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की है और कर रहे हैं। पर अभी तक बहुतेरे विद्वान् हिन्दी को हेय दृष्टि से देखते हैं। ऐसी बात फारसी और अरबी के विद्वानों की नहीं है—वे उर्दू के प्रति यह भावना नहीं रखते। मैं चाहता हूँ कि आप इस पर भी विचार करें।

अधिक समय न लेकर मैं एक बार और यही कहकर समाप्त करना चाहता हूं कि संस्कृत के लिए हिन्दुस्तान में बहुत बड़ा मैदान है—हम उसका ठीक उपयोग करें—प्रगतिशील बनें—प्राचीन और आधुनिक का समन्वय खोज निकालें—उसके रत्नों का मोल आंकना सीखें और फिर भी संसार को उन समस्याओं का हल निकाल बतलावें, जो आज उसे सता रही हैं। आपका यह सबसे बड़ा कर्त्तव्य है और इस युग का यही सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

वक्शाली पोथी का एक पृष्ठ



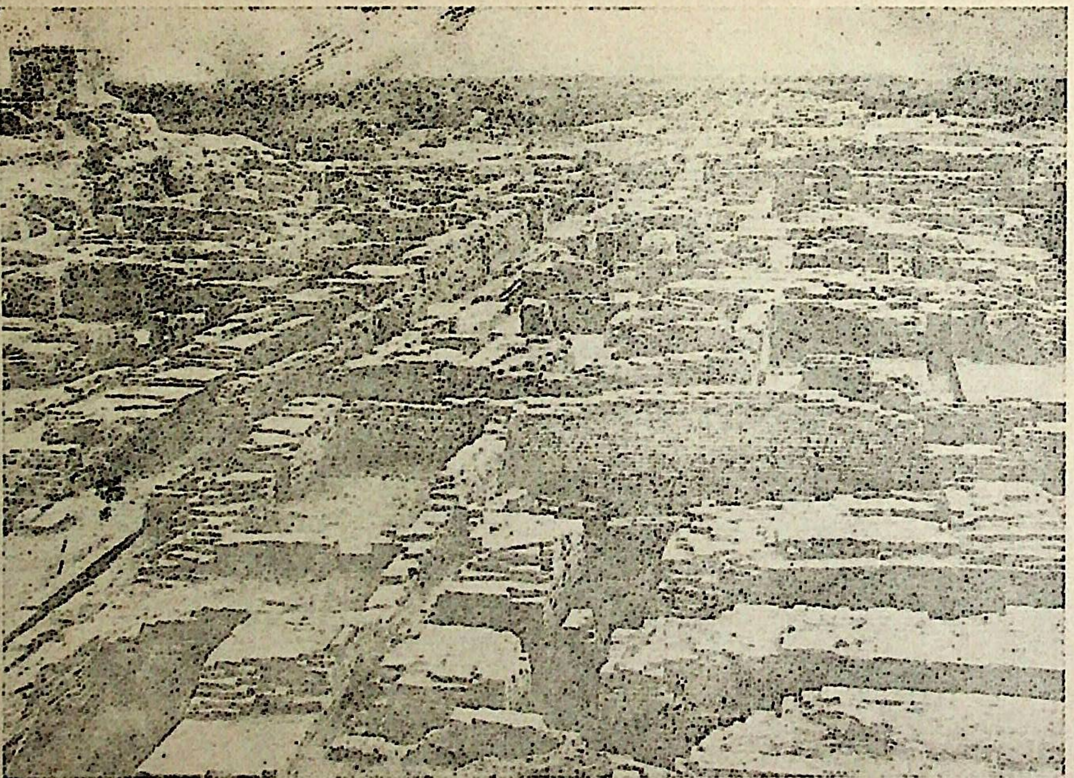
अजन्ता—हरिणों की जोड़ी ('भारत की चित्रकला' से)



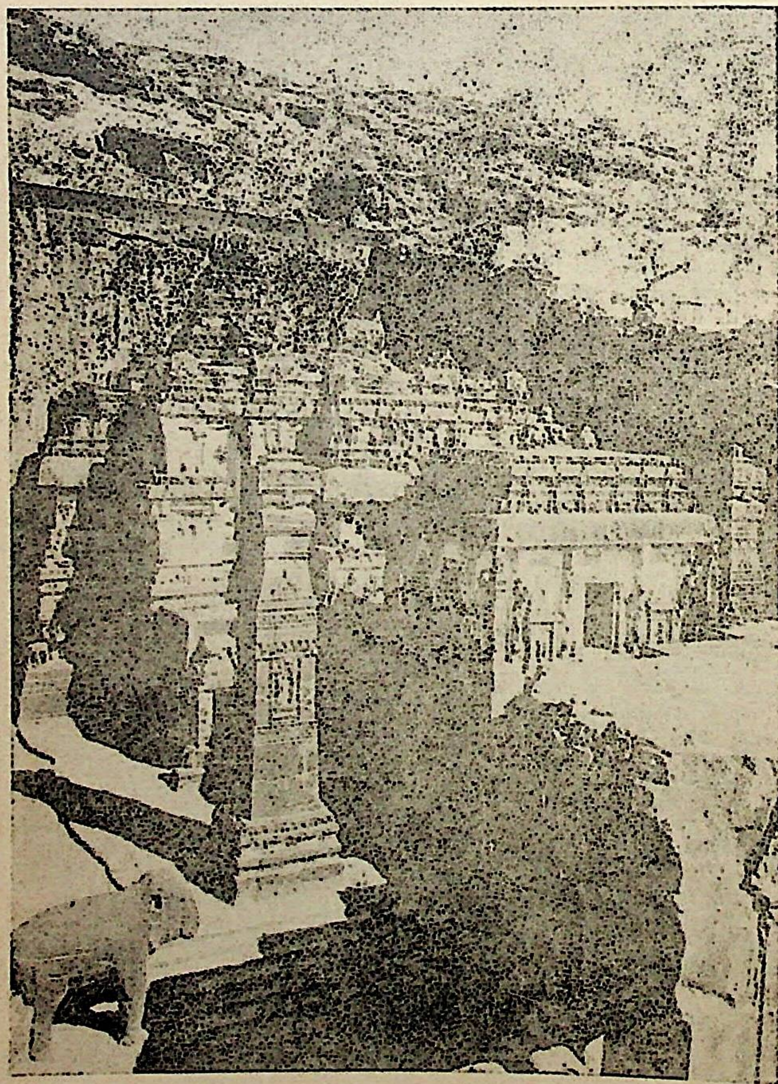
अजन्ता की एक तरह ('भारत की चित्रकला' से)



हल्लीषक नृत्य, बाघ (ग्वालियर) के एक गुहामंदिर का भित्तिचित्र (ग्वा० पु० वि०)



मोहेंनजोदड़ो के ध्वंसावशेष (भा० पु० वि०)



कैलास मंदिर वेरूल का भीतरी दृश्य (भा० पु० वि०)

गीतकाव्यकारों में सूरदासजी के बाद मीराबाई का नाम आता है। इनका गीत-काव्य भी उच्च कोटि का है। उसमें प्रेम की तल्लीनता खूब पाई जाती है। उसका एक-एक पद प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना की जीती-जागती मूर्ति और मीरा के प्रेमसिक्त हृदय की प्रतिकृति है।

'मीरा की उपासना 'माधुर्य' भाव की थी। ये अपने इष्टदेव कृष्ण की भावना प्रियतम अथवा पति के रूप में करती थीं। ये प्रायः मंदिरों में जाकर कृष्ण भगवान् की मूर्ति के सामने आनन्द-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। इनकी कविता का एक पद देखिए—

"हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोना होय॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलना होय।
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय॥
जल विन जैसे मछली तलफे, सो गति मेरी होय।
दरद की मारी वन-वन डोलूँ, वैद मिल्या नहीं कोय॥
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी. जब वैद सँवलिया होय॥"

कैसी तल्लीनता है इसमें ! वियोग छलका पड़ रहा है। विरहिणी मीरा ने मानो इसमें अपना हृदय निकाल कर रख दिया है।

मध्यकालीन गीतकाव्य रचयिताओं में सूर और मीरा के अतिरिक्त उल्लेखनीय कवि तुलसी हुए। सूर तथा मीरा कृष्ण के उपासक थे और तुलसी राम के। तुलसी ने भी ब्रजभाषा में गीत-शैली पर अपनी 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' और कृष्ण-गीतावली की रचना की। 'विनयपत्रिका' में भक्त की दीनता, आत्मग्लानि, आत्मनिवेदन, अनन्यता एवं विरक्ति का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। भक्त जब भगवान के समक्ष उपस्थित होता है तबलघुत्व की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है और अपने को सबसे हीन समझता है। देखिए—

"तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी॥"

"तऊ न मेरे अघ अवगुनि गनि हैं।
जौ जमराज काज सब परहरि यही ख्याल उर अनि हैं ॥"

वह कभी अपने मन को समझाता है, कभी अपनी दशा पर खिन्न होकर भगवान से करुणा की प्रार्थना करता है, देखिए—

"मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाऊँ।
निलज, नीच, निरधन, निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाऊँ।
कीजै दास दास तुलसी अब कृपासिंधु बिन मोल बिकाऊँ।"

'गीतावली' के मधुर पदों में मानव-हृदय के विविध भावों की व्यंजना देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्म-ग्लानि की व्यंजना किन शब्दों में करते हैं, देखिए—

"जौ हौं मातु मते महँ ह्वै हौं।
तो जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वै हौं ?

इसी प्रकार चित्रकूट में राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुन्दर चित्रण है—

"बिलोके दूर तें दोउ बीर।
मन अगहुँड़ तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ कढ़त प्रेमबल धीर ॥"

संकोच और प्रेम का इतना उत्कृष्ट समन्वय अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ? भाव संधि का यह कितना सुन्दर उदाहरण है ! इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के गीत-काव्य में भी तन्मयता का गुण पूर्ण रूप से विद्यमान है।

उत्तर मध्यकाल में किसी उल्लेखनीय गीत-काव्य की रचना नहीं हुई। लुप्त-प्राय गीत-काव्य धारा आधुनिक काल में आकार फिर पुष्ट हुई है। आधुनिक काल में ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली में भी इस शैली पर रचना हुई है और हो रही है। भारतेन्दुजी तथा सत्यनारायणजी कविरत्न ने प्राचीन पद-शैली को अपनाते हुए ब्रजभाषा में गीत-काव्य की रचना की है। भारतेन्दुजी का यह पद देखिए—

"नाथ, तुम अपनी ओर निहारौ।
हमारी ओर न देखहु प्यारे, निज गुन गननि विचारौ ॥
जो लखते अवलों जन-औगुन, अपने गुन विसराई।
तौ तरते किमि अजामेल से पापी, देहु वताई ॥
अवलौं तौ कवहूँ नहिं देखे, जन के औगुन प्यारे।
तौ अव नाथ, नई क्यों ठानत, भाखहु वार हमारे ॥
तुव गुन छिमा दया सों मेरे, अघ नहिं वड़े कन्हाई।
तासों तारि देहु नँदनंदन, हरीचन्द कों धाई ॥"

यहाँ भक्त की दीनता एवं विनय की भावनाओं का सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है।

अन्तर की पीर अन्तर ही जानता है, मर्मवाले संसार में विरले ही हैं, इसे लक्ष्य में रखकर भारतेन्दुजी ने कैसा मार्के का पद लिखा है, देखिए

"मन की कासों पीर सुनाऊँ।
यह तौ जो जाने सोइ जानै क्योंकरि प्रगट जनाऊँ।
रोम-रोम प्रति नैन स्रवन मन, केहि धुनि रूप लखाऊँ ॥
बिना सुजान सिरोमनि री, केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ।
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों कहि निजदसा रोआऊँ ॥
हरीचन्द पिय मिलैं तो पग परि गहि पटुका समझाऊँ ॥"

पं० सत्यनारायण ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य भक्त थे। ब्रज के अतीत दृश्य इनकी आँखों में घूमते रहते थे। इनका जन्म, बाल्यकाल और गार्हस्थ्य सब एक दुःखभरी कहानी के विविध खंड थे। इनके पारवारिक जीवन को कंटकाकीर्ण करने वाली थीं—इनकी पत्नी। इनकी समस्त रचनाएँ करुण रस से ओत-प्रोत हैं। वेचारे पंडितजी कभी 'बस अब नहिं जाति सही' के स्वर में घंटों रोया करते थे, तो कभी 'भयो क्यों अनचाहत को संग' कहते हुए आह भरा करते थे। देखिए—

"भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग के तुम दीपक, मोहन ! प्रेमी हमहु पतंग ॥

लखि तव दीपति, देह शिखा में निरत, बिरह लौ लागी।
खींचति आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी।।
यदपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात।।"

इस गीत में कितनी खिन्नता, कितनी वेदना, कितना विषाद है !

प्रसादजी, पंतजी, महादेवीजी आदि नई धारा के कवियों ने भी गीत-काव्य को अपनाया है, पर उनकी शैली प्राचीन शैली से भिन्न है। विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा, भारतेन्दु, सत्यनारायण आदि ने पद-शैली में गीतों की रचना की। आजकल के कवि पाश्चात्य लिरिक (प्रगीत) शैली का अनुकरण कर रहे हैं। प्रसादजी के 'आँसू', 'झरना', 'लहर' सभी संग्रह प्रगीतात्मक हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"बीती विभावरी जाग री।
अधरों में राग अमंद पिये,
केशों में मलयज बन्द किये।
तू अब तक सोई है आली,
नयनों में भरे विहाग री।
बीती विभावरी जाग री।।"

इनके 'स्कन्दगुप्त नाटक का भी एक गीत देखिए—

"सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल-सदृश, सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता प्रति क्षण में,
नव-अतीत के तुषारकण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है ? सब जीवन बीता जाता है।

इन गीतों में हमें मनोहर कल्पनाओं और भावनाओं की सुकुमार योजना मिलती है, जो प्रसादजी की मौलिकता है।

पंतजी के गीतों में सौन्दर्य-प्रेम, मधुरता और कोमल अनभूति खूब पाई जाती है। कवि ने प्रायः प्राकृतिक चित्रणों में अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उन्हें ऐंद्रिक चित्र बनाया है—

"तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग।
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल,
नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु वन में तम श्यामल।"

निम्नांकित गीत में भावानुभूति देखिए—

"प्रेम की वंसी लगी न प्राण ?
तू इस जीवन के पट भीतर
कौन छिपी मोहित निज छवि पर ?
चंचल री नव यौवन के पर,
प्रखर प्रेम के बाण। प्रेम की वंसी लगी न प्राण ?"

श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतों में जो मिठास है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये करुण-रस की कवियित्री हैं। इनका एक-एक शब्द मानों आँसू का अविरल स्रोत है। इनके गीतों में नैराश्य एवं वेदना का साम्राज्य है। वेदना की जो गम्भीरता मीरा के उद्‌गारों में पाई जाती है, वही महादेवीजी की भाव-व्यंजना में लक्षित होती है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे।
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे।
स्नेह भरा जलता रहता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे।
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे।

धूप 'बने' उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय-प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।।"

"जाग बेसुध जाग,
अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक-हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रति द्वार,
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप,
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद्-चाप,
करुणा के दुलारे जाग।"

बच्चनजी के गीत भी हिन्दी काव्य में ख्याति पा चुके हैं। वे हृदय-स्पर्शी हैं और उनमें अच्छा प्रवाह है। एक नमूना लीजिए—

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे

× × ×

आज मधुमय गान कल के
दग्ध-कण्ट-प्रलाप मेरे।

गीत कह इसको न दुनियाँ,
यह दुखों की माप मेरे।"

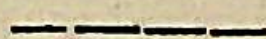
प्रबन्ध-काव्यकार मैथिलीशरणजी गुप्त भी आधुनिक प्रगीतात्मक प्रवाह में बहे हैं। 'साकेत' और 'यशोधरा' में सुन्दर गीतों की सृष्टि हुई है। राहुल को सुलाती हुई यशोधरा के एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"तेरी साँसों का निष्पन्दन,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन।
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रन्दन,
सो, उनके कुल-नन्दन सो।
सो, मेरे अंचल-धन, सो।।"

विरहिणी यशोधरा के सन्ताप का यह कैसा सजीव चित्र है!

सारांश यह है कि हिन्दी में गीत-काव्य की धारा चौदहवीं शताब्दी से अक्षुण्ण गति से प्रवाहित हो रही है। वर्त्तमान काल में वह वृहदाकार हो

गई है। आजकल तो गीत लिखने का एक रिवाज सा चल पड़ा है। प्रायः सभी कवियों की रचनाएं प्रगीतात्मक हो रही है। श्री मैथिलीशरण गुप्त सरीखे प्रवन्ध-काव्यकार का झुकाव भी गीतों की ओर हो गया है। पर आजकल के गीत प्राचीन गीतों की श्रेणी में नहीं रक्खे जा सकते। उनमें वैसी तल्लीनता, वैसी तन्मयता, वैसी भावानुभूति, वैसी भावुकता नहीं है जैसी प्राचीन गीतों में है। आजकल के अधिकांश कवियों में प्रवन्ध-काव्य लिखने की क्षमता नहीं है। इसलिए वे गीतों पर लेखनी चलाते हैं। बैठे-ठाले कभी एक, कभी दूसरा इस प्रकार गीत लिखते गये और कुछ समय पश्चात् उनका संग्रह छपवाकर वन गये कवि। कोई भावावेश के कारण गीत-शैली को अपनाते हैं। प्राचीन कवि भावावेश पर ही गीत-शैली की शरण लेते थे। यही कारण है प्राचीन गीत-काव्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी है और आर्वाचीन गीत-काव्य अपेक्षाकृत नीरस। कुछ कवियों के गीत तो निरे कल्पना-प्रसूत हैं, हृदय का उनमें कोई योग नहीं दिखाई पड़ता। हमारे कवियों को सूर, तुलसी और मीरा का आदर्श सम्मुख रखकर गीत-काव्य की रचना करनी चाहिए। तभी उच्च कोटि के गीतों की सृष्टि हो सकेगी।



वर्त्तमान हिंदी-साहित्य की प्रगति

रूप-रेखा —

(१) प्रस्तावना—परिवर्तन का हिंदी साहित्य पर प्रभाव
(२) वर्त्तमान हिंदी-कविता की प्रगति
    (क) करुणा की प्रवृत्ति
    (ख) राष्ट्रीयता के उद्गार
    (ग) प्रकृति के प्रति अनुराग
    (घ) छायावाद की ओर झुकाव
    (ङ) प्रगतिवाद की ओर उन्मुखता
    (च) मुक्तकों की भरमार

(छ) कल्पना की प्रधानता
(ज) लिरिक शैली का अपनाना

(३) वर्त्तमान हिंदी-गद्य की प्रगति—
(क) नाटक की प्रगति
(ख) उपन्यास की प्रगति
(ग) कहानी की प्रगति
(घ) निवन्ध की प्रगति

(४) उपसंहार—सारांश

संसार परिवर्तनशील है। सभी सांसारिक वस्तुएं समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। साहित्य को ही लींजिये। समय की प्रवृत्तियों के अनुसार प्रत्येक भाषा के साहित्य में रूपान्तर देखा जाता है, प्रत्येक भाषा के साहित्य की प्रगति बदलती रहती है। हिन्दी-साहित्य की धारा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही है। इस धारा ने समयानुसार अनेक रूप परिवर्तित किये हैं। वीर-गाथा-काल में यह वीर-रस-मय रही, भक्ति-काल में यह भक्ति रस-मय रही, रीति-काल में यह शृङ्गारमय रही और आज यह अपना और वेश ही बदले हुए है। हमें यहाँ इसकी वर्त्तमान प्रगति पर ही विचार करना है।

पहले कविता को लीजिये। आज-कल की कविता वेदना, करुणा निराशा आदि भावों से ओत-प्रोत देखी जाती है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता से लोगों का जीवन नीरस हो गया है। इस नीरसता का प्रभाव कविता में भी स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगा है। जयशङ्करप्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा आदि की रचनाओं में करुणा का साम्राज्य है। प्रसादजी आँसू को पीयूष से भी श्रेष्ठ मानते हैं। देखिये—

"तातो तातो कढ़ि रूखे मन कौ हरित करै,
ऐरे मेरे आँसू तें पीयूष ते सरस है।"

पन्तजी तो जीवन की सरसता के लिए दुख का होना आवश्यक समझते हैं। देखिए—

"विना दुख के सब सुख निस्सार,
विना आँसू के जीवन भार।"

इस स्वातंत्र्य-युग में देशोद्धार की लहर उठना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष में अगणित वीर देशोद्धार का वाना धारण किये हुये मातृभूमि पर अपने जीवन का बलिदान चढ़ा रहे हैं। राष्ट्रीय जाग्रति के लक्षण सर्वत्र दिखलाई दे रहे हैं। ऐसे वातावरण में कवियों की वाणी भी राष्ट्रीयता के रंग में रंगी हुई देखी जाती है। देखिए, एक कवि किस प्रकार पुष्प-रूप में अपनी अभिलाषा प्रकट कर रहा है—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक"॥

सुभद्राकुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि की रचनाएं देश-प्रेम का राग अलापती हैं।

वर्तमान कविता प्रकृति की ओर झुकती जा रही है। उसमें प्रकृति स्वतंत्र रूप से अपनी छटा प्रदर्शित करती है। प्राचीन कविता की भाँति भावों के आधार रूप में उसका उपयोग आजकल नहीं होता। आजकल बड़े-बड़े सुन्दर प्राकृतिक चित्रण देखने को मिल रहे हैं। पन्तजी, प्रसादजी, गुप्तजी, शुक्लजी आदि की कविता के प्राकृतिक दृश्य दर्शनीय हैं। देखिए पन्तजी की 'नौका-विहार' शीर्षक कविता का यह गङ्गा-वर्णन—

सैकत शैया पर दुग्ध-धवल, तन्वङ्गी गङ्गा, ग्रीष्म-विरल
लेटी है शाँत, क्लान्त, निश्चल।
गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।

वर्तमान कविता को प्रगति छायावाद की ओर है। प्रेम के लोकोत्तर रूप को लेकर कविता में उसकी अभिव्यंजना वर्तमान काल के कवियों का प्रधान लक्षण है। कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम का आभास देते हुये देखे जाते हैं। वे अपने प्रियतम या प्रियतमा ईश्वर के साक्षात्कार के अभाव में तड़पते हुए पाये जाते हैं। प्रसादजी, महादेवी वर्मा, पन्तजी, निरालाजी अदि वर्तमान काल के प्रमुख छायावादी कवि हैं।

इधर कुछ दिनों से वर्त्तमान कविता छायावाद से मुख मोड़कर प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हो रही है। हमारी कविता का यह नवीनतम क्षेत्र है। वह अब कल्पना के दिशाहीन अनन्त आकाश में उड़ान भरना छोड़कर जनपूर्ण धरती पर अपने पैर टिकाने लगी हैं। प्रगतिवादी कविता में साम्यवादी भावनाओं की व्यंजना होती है। उसमें शोषित-पीड़ित कृषकों तथा श्रमिकों का करुण जीवन अंकित किया जाता है।

वर्त्तमान कविता ने प्रबन्ध-क्षेत्र से मुख-सा मोड़ लिया है। उसका प्रधान क्रीड़ा-क्षेत्र मुक्तक ही है। प्रायः कविगण छोटे-छोटे विषय को लेकर पद्यात्मक निबन्धों की रचना में प्रवृत्त हो रहे हैं। जैसे—झरना, आंसू, फूल, विषाद, वसंत, छाया, बालापन, विदा आदि।

वर्त्तमान कविता लाक्षणिकता के लिए अँग्रेजी का पल्ला पकड़ रही है। अग्रेजी भाषा की लाक्षणिक पदावलियों का ज्यों का त्यों अनुवाद करके आजकल कवि अपनी रचनाओं को सजाने लगे हैं। जैसे—Innocent eyes का अनुवाद 'अजान नयन' और Vacant looks का अनुवाद 'चख रीतै' इत्यादि।

आजकल की कविता में कल्पना भाव का स्थान लेती जा रही है। केवल चमत्कार-विधान ही जिसको 'अभिव्यंजनावाद' कहते हैं वर्त्तमान कविता की प्रधान प्रवृति है। अधिकांश आधुनिक कविगण मस्तिष्क को खरोंच-खरोंच कर अनूठी उक्तियाँ कहने में ही अपने कवि-कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

आजकल की कविता का झुकाव अंग्रेजी की प्रगीतात्मक (Lyric) शैली की ओर होता जा रहा है। पन्तजी, प्रसादजी, निरालाजी, महादेवीजी आदि की कविताएँ इसी शैली को अपना रही है।

यह तो हुई कविता की बात। अब वर्तमान गद्य की ओर आइए। गद्य का एक बड़ा आवश्यक अंग नाटक है। हिन्दी-नाटक की प्रगति के सम्बन्ध में तीन प्रधान बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण पर एकांकी नाटक लिखे जा रहे हैं। दूसरी बात यह है कि दुःखान्त नाटक भी अब लिखे जाने लगे हैं। हमारे प्राचीन नाटक सुखान्त ही होते थे, सुख-दुःख के घात-प्रतिघात अवश्य दिखलाये जाते थे, पर उन सबका अवसान

आनन्द में हो जाया करता था। तीसरी बात यह है कि काव्यत्व को हटाकर अतः प्रकृति के विश्लेषण द्वारा चरित-चित्रण को प्रधानता दी जा रही है।

उपन्यास 'यथार्थता' की ओर पदार्पण कर रहे हैं। मानव-जीवन का ज्यों का त्यों चित्र उपस्थित करना ही उनका लक्ष्य हो रहा है। उसका लोकोपयोगी आदर्श स्वरूप अब उन्हें आकृष्ट नहीं करता। वे अँग्रेजी वेश-भूषा को अपना रहे हैं। वे भारतवर्ष के वास्तविक और सामान्य जीवन को चित्रित नहीं कर रहे, वरन् अँग्रेजी-शिक्षित छोटे से समाज के ही जीवन का रूप हमें दिखा रहे हैं। मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइङ्गरूम, टैनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखलाई पड़ने लगे है। इस प्रकार उनके द्वारा भारतीय-संस्कृति का गला घुट रहा है।

आजकल की कहानियों में प्रायः सादे ढंग की कुछ घटनाएं पाठक के सम्मुख रखी जाती हैं जैसा कि अंग्रेजी कहानियों में होता है। उनमें से कुछ का ध्येय सामाजिक रूढ़ियों का खंडन रहता है। आजकल कहानी-लेखन में कई प्रकार की प्रणालियों का प्रयोग हो रहा है। जैसे ऐतिहासिक प्रणाली, आत्म-चरित्र-प्रणाली, पत्र-प्रणाली, कथोपकथन-प्रणाली और डायरी-प्रणाली। पहली में लेखक दर्शक की भाँति कहानी लिखता है। दूसरी में वह स्वयं कहानी नायक का स्थान ग्रहण कर लेता है। तीसरी में वह पत्रों द्वारा कहानी की वस्तु रचना करता है। चौथी में वह कथोपकथन द्वारा कहानी का स्वरूप उपस्थित करता है। पाँचवीं में वह अपने किसी पात्र की डायरी के उदाहरणों से वस्तु-सामग्री जुटाता है।

निबन्ध का तो अभी हमारे साहित्य में समुचित विकास ही नहीं हुआ है। दो-चार उच्च-कोटि के निबन्ध-लेखक अवश्य देखे जाते हैं। वर्त्तमान निबन्ध दो रूपों में पाये जाते हैं—विवेचनात्मक और भावात्मक। विवेचनात्मक निबन्ध में लेखक किसी विषय पर अपने विचार व्यक्त करता है। भावात्मक निबन्ध में वह रहस्यात्मक ढंग से अपने हृदय के भाव प्रकट करता है।

सारांश यह है कि वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य द्रुतगति से बढ़ रहा है। पर उसकी प्रगति में कुछ अवांछनीय विदेशीपन आता जा रहा है। यह अच्छा

नहीं। हमें अपने साहित्य का स्वतन्त्र विकास करना चाहिए, इसी में हमारा गौरव है, इसी में हमारी शोभा है।

हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साहित्य और समाज का सम्बन्ध
(२) हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता—
 (क) प्राचीन कविता में
 (ख) आधुनिक कविता में
(१) भारतेन्दु काल में (२) द्विवेदी काल में (३) वर्तमान काल में
(४) उपसंहार—सारांश

साहित्य और समाज का नित्य सम्बन्ध है। साहित्य समाज की भावनाओं से प्रभावित होता है और समाज साहित्य की विशेषताओं से। साहित्य के बनाने-बिगाड़ने में समाज का हाथ रहता है और समाज के बनाने-बिगाड़ने में साहित्य का। साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य में समाज का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। हिन्दी-साहित्य में भारतीय समाज की समय-समय की भावनाएँ स्पष्ट झलक रही हैं।

राष्ट्रीय भावना को लीजिए। भारतीय समाज में राष्ट्रीय भावना आधुनिक युग की देन है। अतः प्रधानता आधुनिक हिन्दी-कविता में हमें राष्ट्रीय भावना के दर्शन होते हैं। प्राचीन युग में उसका कुछ आभास भूषण की कृतियों में अवश्य मिलता है। भूषण ने राष्ट्रीय से प्रेरित होकर काव्य-रचना की थी। उनके नायक छत्रपति शिवाजी राष्ट्र के उन्नायक तथा राष्ट्रीयता की मूर्ति थे। फिर भला भूषण की कविता राष्ट्रीयता से कैसे अछूती रहती? प्राचीन काल में राष्ट्रीय भावना के न होने का एक बड़ा कारण यह था कि उस समय सम्पूर्ण देश को एक समझने की सुगमता प्रदान करने वाले साधनों का अभाव था।

बीसवीं शताब्दी में देश में इस प्रकार की सुगमता हो गई। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सम्पर्क से भी राष्ट्रीय भावना के सूत्रपात होने में सहायता मिली।

अँग्रेजी साहित्य तथा समाज राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। अतः अँग्रेजी साहित्य के अध्ययन तथा अँग्रेजों के सम्पर्क में आने से भारतीय समाज में राष्ट्रीयता का प्रस्फुरण हुआ। हम लोग राष्ट्र का महत्व समझने लगे और उसकी हित-साधना में तन-मन-धन से संलग्न होने लगे। आधुनिक हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से होता है। उनके नाटकों में आई हुई कविताओं में देश की दशा का मार्मिक चित्र अंकित हुआ है। वहुत सी स्वतन्त्र रचनाओं में भी कहीं देश के प्राचीन गौरव पर गर्व और कहीं वर्त्तमान अधोगति पर क्षोभपूर्ण वेदना प्रकट हुई है। 'नीलदेवी' में भगवान के लिए यह कैसी करुण पुकार है, देखिये—

"कहाँ करुणानिधि केशव सोए ?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥"

भारतेन्दु जी के अतिरिक्त भारतेन्दु-काल में पं० वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० श्रीधर पाठक तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की वाणी में भी राष्ट्रीयता का स्वर सुनाई पड़ा। प्रेमघनजी देशवासियों को उन्नति के लिए प्रेरित करते हुए क्या कहते हैं, देखिए—

"उठो आर्य संतान सकल मिलि वस न विलम्व लगाओ।
व्रिटिश राज स्वातन्त्र्य समय व्यर्थ न वैठि गँवाओ ॥"

देश का गुण-गान और प्रशंसा राष्ट्रीयता के अन्तर्गत है। पाठकजी के 'जय-जय प्यारा भारत देश' की वहुत प्रसिद्धि है। उनके 'भारतगीत' भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य, विशालता, गौरवादि पर वड़े लुभावने गीत हैं।

द्विवेदी-काल के सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं। इनकी विख्यात कृति 'भारत-भारती' में भारत के अतीत गौरव तथा वर्त्तमान दुर्दशा का वड़ा स्पष्ट एवं विशद चित्रण है। साथ ही भविष्य के लिए कल्याण की प्रार्थना भी की गई है, देखिए—

हरि ! हरि हे !
हे मेरे धन्वन्तरि हे !

तेरे हाथों में है अक्षय सुरस सुधा से भरा घड़ा !
और देश यह मरा पड़ा !
× × × ×
नाड़ी में कुछ सार नहीं, शोणित में संचार नहीं
कब से यह अचेत है ऐसा, कुछ अन्तर का शोधन दे।
मोह मिटा उद्‌बोधन दे ॥"

गुप्त जी के अतिरिक्त पं० रामचरित उपाध्याय, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पांडेय, श्री वियोगी हरि और पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि राष्ट्रीय कवि भी द्विवेदी-काल में उत्पन्न हुए, जिन्होंने भारतीय जन-समाज में राष्ट्रीयता का मन्त्र फूँका।

वर्तमान-काल में हिन्दी-कविता की राष्ट्रीय धारा ने विशाल रूप धारण किया है। अनेक कवि उसे अपनी सरस रचनाओं से भरने में संलग्न हैं। उनमें प्रसादजी, पं० सोहनलाल द्विवेदी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री रामधारीसिंह दिनकर, श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री श्यामनारायण पांडेय प्रमुख हैं। प्रसादजी के राष्ट्रीय उद्‌गार देखिए—

"जियें तो सदा इसी के लिए
यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व,
हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥"

पं० सोहनलाल द्विवेदी को 'गांधीवाद का चारण' कहा गया है। इनमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का स्थान वर्तमान राष्ट्रीय कवियों में महत्वपूर्ण है। इन्होंने अपने 'एक भारतीय आत्मा' नाम को सर्वथा सार्थक किया है। 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक इनकी रचना कितनी सर्वप्रिय है ! नवीन जी स्वयं एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता हैं। अतः इनकी कविताओं में राष्ट्रीयता का समावेश स्वाभाविक है। इनका विप्लव-गायन 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये'

बहुत प्रसिद्ध है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने राष्ट्रीय कविता के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त की। इनकी 'झांसी की रानी' शीर्षक कविता जन-जन की जिह्वा पर नाच रही है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरङ्गी को करने की सबने मनमें ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुंदेले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।"

राष्ट्रीय कवियों में दिनकरजी को भी नहीं भुलाया जा सकता। 'हिमालय के प्रति' शीर्षक कविता में कवि को प्रकृति ने उतना आकृष्ट नहीं किया है जितना हिमालय के राष्ट्रीय गौरव ने। पंतजी की नवीन रचना 'स्वर्ण किरण' में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। 'ज्योति भूमि जय भारत देश' में भारत के प्रति कवि का हृदय उमड़ा पड़ता है। पांडेयजी ने भारत के प्राण महाराणा प्रताप सम्बन्धी 'हल्दी घाटी' नामक काव्य की रचना करके राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जग वैभव-उत्सर्ग किया,
भारत का वीर कहा कर।
माता-मुख-लाली प्रताप ने,
रख ली लहू बहा कर॥"

सारांश यह है कि इस बीसवीं शताब्दी में हमारी हिन्दी-कविता राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण हो रही है। अनेक कवि उसे सुन्दर-सुन्दर राष्ट्रीय उद्गारों से भर रहे हैं। यह हर्ष की बात है। राष्ट्रोत्थान के लिए राष्ट्रीय

कविताओं का विशेष महत्व है। उनसे हमारे नवयुवकों में स्फूर्ति, जोश, उत्साह एवं उमंग पैदा होती है और नव-जीवन का संचार होता है।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—हिन्दी काव्य-धारा का मार्ग-परिवर्तन और आजकल प्रगतिवाद के क्षेत्र की ओर उसका प्रवाह
(२) प्रगतिवाद का अर्थ
(३) वर्तमान हिन्दी-कविता में प्रगतिवादी विशेषताएं—
 (क) आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता का प्रतिपादन
 (ख) भोजन, वस्त्र तथा निवास-सम्बन्धी प्रमुख आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान
 (ग) मानव-समाज के दीन-हीन अंगों को स्थान
 (घ) जीवन का यथार्थ चित्रण
(४) प्रगतिवादी कविता के गुण-दोष
(५) उपसंहार—सारांश

राष्ट्रीय एकता में पद्य

कविता सरिता के समान होती है। जिस प्रकार सरिता समय-समय पर अपना मार्ग परिवर्तित करती रहती है उसी प्रकार कविता में भी परिवर्तन होता रहता है। वह कालानुसार समाज की बदलती हुई प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराती रहती है। हिन्दी-कविता को देखिए। उसकी धारा ने कितना मार्ग-परिवर्तन किया है। सर्वप्रथम वह वीरगाथा-क्षेत्र में प्रवाहित हुई जहाँ तलवारों की चमचमाहट के साथ मारकाट से उसकी धारा रक्तरंजित हो गई। मुस्लिम आक्रमणकारियों को रोकने के लिये छेड़े गए अवरोधात्मक युद्धों तथा शौर्य-प्रदर्शनार्थ छेड़े गए पारस्परिक युद्धों का यह क्षेत्र अखाड़ा था। कभी-कभी कन्यादान भी पारस्परिक युद्ध का कारण बन जाता था। राजपूत लोग कन्याओं का विवाह करने में अपनी हेटी समझते थे। अतः कभी-कभी विवाह-मंडप में ही तलवारें चल जाती थीं। किसी राजा की कन्या के सौन्दर्य का समाचार पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करके उसे बलपूर्वक हर लाना वीरता का चिह्न

समझा जाता था । इन्हीं सब प्रवृत्तियों की छाप वीरगाथाकालीन कविता में मिलती है । फिर हिन्दी कविता अपना मार्ग बदलकर भक्ति क्षेत्र में प्रविष्ट हुई । वहाँ उसकी चार धाराएँ हो गईं—ज्ञानमार्गी; प्रेममार्गी, कृष्णभक्तिमार्गी, रामभक्तिमार्गी । ज्ञानमार्गी धारा सन्त कवियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने के लिए प्रवर्तित हुई थी । ये सन्तकवि 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई । हरि को भजै सो हरि का होई ।' को मानने वाले थे और इनका उपदेश था कि हिन्दुओं का ईश्वर और मुसलमानों का खुदा एक ही है, पृथक्-पृथक् नहीं । प्रेममार्गी धारा भी हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव के निराकरण के लिए सूफियों द्वारा प्रचलित हुई । ये ईश्वर और खुदा दोनों को प्रेमस्वरूप बताकर दोनों जातियों को प्रेम-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे । कृष्णभक्ति-मार्गी धारा कृष्णभक्त कवियों की थी जिन्होंने कृष्ण का हँसता-खेलता रूप दिखाकर पराधीन हिन्दू जाति की खिन्नता दूर की । रामभक्तिमार्गी धारा रामभक्त कवियों की थी जिन्होंने राम-रूप में ईश्वर का दुष्ट-दलनकारी स्वरूप दिखाकर निराश हिन्दू-जाति में आशा का संचार किया । कुछ समय उपरान्त हिन्दी-कविता की धारा ने फिर अपना मार्ग बदला और रीति-क्षेत्र में पदार्पण किया । अब वह नायिकाओं का शृङ्गार करने लगी और यौवनभार से आक्रान्त रमणी की भाँति मन्थर-मन्थर गति से विचरने लगी । उसमें वासनामय कलुषित प्रेम की सहस्रों लहरें उठने लगीं । आधुनिक काल में आकर उसने प्रथम देशभक्ति का क्षेत्र अपनाया तत्पश्चात् छायावाद का । अब वह प्रगतिवाद के क्षेत्र की ओर उन्मुख हुई है ।

साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन प्रगतिवाद है, पूँजीवाद के विद्रोह में श्रमिकों एवं कृषकों के दयनीय जीवन का चित्रण प्रगतिवाद है । आज उद्योगपति तथा जमींदार मजदूरों और किसानों को पीड़ित कर रहे हैं, उनका रक्त चूस रहे हैं । क्या उनके विरुद्ध आवाज उठाना काव्य का कर्त्तव्य नहीं है ? क्या समाज के सर्वाङ्गीण स्वरूप का दिग्दर्शन कराना उसका कर्त्तव्य नहीं है ? पर अब तक समाज का निम्न वर्ग उपेक्षित रहा, काव्य में या तो उच्च वर्ग को स्थान मिला या मध्यम वर्ग को । हमारे छायावादी कवि तो जीवन की

ओर से बिल्कुल आँख मूँदकर अनन्त आकाश में काल्पनिक उड़ान भरते रहे। प्रगतिवादी कवियों ने निम्नवर्ग की ओर ध्यान दिया है। प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया है।

वर्तमान हिन्दी-कविता में प्रगतिवादी कई विशेषताएँ लक्षित हो रही हैं। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता ले रही है। आजकल ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का प्रतिपादन न होकर हिन्दी-कविता में जीवन की विषमताओं का चित्रण किया जा रहा है। जीवन तथा जगत के कल्पना-प्रसूत आकर्षक रूप को प्रस्तुत न करके यथार्थ रूप को उपस्थित किया जा रहा है, जिससे कविता दूर से देखने योग्य तमाशे की वस्तु न बन जाय। उसमें भोजन-वस्त्र और निवास सम्बन्धी प्रधान आवश्यकताओं की ओर से मुख नहीं मोड़ा जा रहा है। 'भूखे भजन न होइ गोपाला' के अनुसार भोजन के अभाव में मनुष्य को कुछ नहीं सुहाता। फिर इतनी महत्त्वपूर्ण अन्न-वस्त्र की समस्या को कविता में स्थान मिलना ही चाहिए। उसमें मानव-समाज के दीन-हीन अंगों की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है, शोषितों तथा पीड़ितों के जीवन का सम्यक् चित्रण हो रहा है। अंचल, बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, पंत आदि की रचनाएँ इन विशेषताओं से सम्पन्न हैं। कुछ प्रगतिवादी कविताओं के नमूने देखिए—

"गाज गिरी श्रमिकों के सुख पर फूली धन-सत्ता इतराती।
फाड़ गया हो जैसे कोई फोड़ों से धुँधुआती छाती॥
दिनभर प्राण जलाते घू-घू ये पशु से जघन्य कृश जर्जर।
संध्या को ले चुसी हड्डियाँ आते भिखमंगों से कातर॥
ये भी निशि में सुख से सोते पाते अगर पेट भर दाना।
किन्तु इन्हें तो कफन न मिलता इन्हें कठिन भी तो मर जाना॥"

(अंचल)

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥ (दिनकर)

"वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें ॥"
(भगवतीचरण वर्मा)

प्रगतिवाद ने हिन्दी-कविता के प्रवाह को, जो छायावाद के कारण जीवन से पृथक् हो गया था, पुनः जीवन की ओर मोड़ा है। यह अच्छी बात है। निम्न वर्गीय समाज के जीवन को काव्य का विषय बनाकर उसने एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। पर उसने काव्य के क्षेत्र को संकुचित कर दिया है। कविता को किसी वर्ग, किसी समय, किसी स्थिति के लिये सीमित नहीं करना चाहिए। उसमें तो समाज का सर्वाङ्गीण चित्र देखने को मिलना चाहिए। केवल प्रगतिवादी कविता ही कविता नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त वीभत्स एवं अशिष्ट प्रगतिवादी रचनाओं से कविता के गौरव को आघात पहुँचता है। प्रगतिबादी कवियों के वास्तविक जीवन और विचारों में महान् अन्तर है। वे रहते तो हैं कोठियों तथा बंगलों में और कल्पना करते हैं झोप-ड़ियों में रहने वाले कृषकों एवं श्रमिकों के जीवन की। उनका जीवन कृषकों तथा श्रमिकों के जीवन से कोसों दूर है। ये स्वयं उन विलास के साधनों का उपभोग करते हैं जिनके लिए पूँजीपतियों और जमींदारों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता। उसकी अन्य आवश्यकताएँ भी हैं। फिर प्रगतिवादी कविता उनकी ओर क्यों उदासीन रहे ?

सारांश यह है कि प्रगतिवाद ने यद्यपि एक अभाव की पूर्ति की है, तथापि वह औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर रहा है। यह बुरी बात है। प्रगतिवादी कवियों को अश्लीलता एवं शिष्टता की रक्षा करनी चाहिए। उन्हें पूँजीपतियों

और जमींदारों को कोसना शोभा नहीं देता। इसके अतिरिक्त केवल प्रगतिवादी कविता को ही कविता कहना उचित नहीं है।

साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद

रूपरेखा :—

(१) प्रस्तावना—आदर्शवाद और यथार्थवाद का अर्थ
(२) साहित्य और उसका उद्देश्य
(३) साहित्य के उद्देश्य की आदर्शवाद द्वारा पूर्ति
(४) प्राचीन भारतीय साहित्य का पूर्णतः आदर्शवादी होना
(५) अर्वाचीन भारतीय साहित्य का विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप यथार्थवाद की ओर झुकाव
(६) उपसंहार—सारांश

इधर कुछ समय से साहित्य-क्षेत्र में एक विवाद चल पड़ा है। कुछ साहित्यकों की धारणा है कि साहित्य आदर्शवादी होना चाहिये और कुछ चाहते हैं कि वह यथार्थवादी हो। आदर्शवादियों का कथन है कि साहित्य में जीवन और जगत में जो कुछ अच्छा है उसी को स्थान मिलना चाहिए, साहित्य-निर्माता को जीवन के कलुषित अंगों का, समाज के गर्हित रूप का, चित्रण नहीं करना चाहिए। यदि वह ऐसा करे भी तो अन्त में उसे सत् द्वारा असत् का दमन सत् द्वारा असत् पर विजय दिखलानी चाहिए; जिससे जगत में नीति और मर्यादा का अस्तित्व बना रहे। यथार्थवादियों का कहना है कि जीवन और जगत का वास्तविक स्वरूप साहित्य में अंकित होना चाहिए। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कृति में जीवन का वही सामान्य रूप चित्रित करे जो संसार में देखा जाता है, एक काल्पनिक और जगत से परे रूप खड़ा करके मानव-समाज़ को जीवन की वास्तविकताओं से पृथक् न करे। यह देखा जाता है कि सांसारिक जीवन में निराशा, कष्ट एवं पाप का साम्राज्य रहता है, फिर साहित्यकार क्यों उसमें आशा, सुख तथा पवित्रता का संचार करे ?

पूर्व इसके कि आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रश्न पर विचार किया जाय हमें साहित्य और उसके उद्देश्य को समझ लेना चाहिए। साहित्य जीवन की आलोचना है। उसमें जीवन का उत्थान-पतन, जीवन की अच्छाइयां-बुराइयां प्रदर्शित करके जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं, जिससे जन-समाज का पथ-प्रदर्शन हो सके। पर कुछ लोग साहित्य को जीवन का दर्पण मानते हैं। उनके अनुसार दर्पण की भाँति साहित्य भी जीवन के सामान्य और यथार्थ स्वरूप को ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे। उसमें समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों का जीवन असली रूप में देखा जाय। पर इस प्रकार के साहित्य-सृजन से क्या लाभ ? यदि साहित्य का जीवन से सम्बन्ध है तो फिर जीवन-निर्वाह के प्रश्न से भी उसका सम्बन्ध होना चाहिए। यदि साहित्य जीवन को लेकर चलता है तो उसे जीवन के सिद्धान्तों को भी लेकर चलना चाहिए, अन्यथा वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' नहीं हो सकेगा। क्या ऐसा साहित्य सत्य हो सकता है जो जीवन के पापमय स्वरूप का चित्रण करे ? क्या ऐसा साहित्य शिव (कल्याणकर) हो सकता है जो कलुषित और नीति-रहित जीवन का प्रतिपादन करे ? क्या ऐसा साहित्य सुन्दर हो सकता है जो हृदय तथा मन के पवित्र भावों तथा विचारों से मुख मोड़ ले ? इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के दो पक्ष हैं—उत्कृष्ट एवं निकृष्ट। जीवन में आशा और निराशा, सुख और दुःख, पाप और पुण्य दोनों का सामंजस्य है और जीवन का पूर्ण रूप देखने के लिये साहित्य में इन दोनों को ही स्थान मिलना चाहिए, परन्तु लोक-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि साहित्य-निर्माता पहले की दूसरे पर विजय दिखलाए। यह ठीक है कि संसार में साधारणतः ऐसा नहीं देखा जाता। हम देखते हैं कि प्रायः पापी को सफलता मिलती है और पुण्यात्मा को असफलता, दुष्ट मौज उड़ाते हैं और सज्जनों पर दुःख के पहाड़ टूटते हैं, धूर्त समृद्धि के शिखर पर चढ़ जाते हैं और सदाचारी योग्यता होते हुए भी अवनति के गर्त में पड़े रहते हैं। किन्तु यह शाश्वत और पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्य में तो शाश्वत और पूर्ण सत्य की ही रक्षा होनी चाहिए—इसी में विश्व का कल्याण है।

अतः साहित्य सदैव आदर्श की ओर झुके। उसमें नीति और मर्यादा का बोलबाला हो। उसमें मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा

किया जाय। उसमें आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाए जायँ। उसमें अनुकरणीय सिद्धान्तों की उद्भावना की जाय। उसमें आचार की गंगा वहाई जाय। परन्तु यह सब किया जाय समाज के कलुषित रूप के साथ द्वन्द्व द्वारा। तभी सर्व साधारण पर पर्याप्त प्रभाव डाला जा सकता है। तभी सर्व साधारण के लिये मंगल की पीयूषधारा प्रवाहित की जा सकती है। पवित्रता की आलोचना करती है मलिनता। नीति की आलोचना करती है अनीति। पुण्य का आलोचक है पाप। सदाचार का आलोचक है दुराचार। दूसरे के विना पहले की महत्ता सम्यक् रूप से प्रतिपादित नहीं की जा सकती। अतः लोकोपयोगी साहित्य-निर्माता सदैव जीवन के इन दो रूपों की विवेचना करता है। वह 'रामत्व' और 'रावणत्व' का पारस्परिक द्वन्द्व दिखलाता हुआ 'रामत्व' का झंडा ऊँचा उठाता है और जन-समाज के हृदय का उसके साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार वह अपना उद्धार तो करता ही है पर साथ में समाज का भी उद्धार करता है। जिस कार्य के सम्पादन करने में सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं हो सकते उसे वह अकेला ही पूरा कर देता है।

हमारे पूर्वज इसी प्रकार के साहित्य-निर्माता थे। वे सर्वदा आदर्शवादी साहित्य का सृजन करते थे। सृष्टि में जो कुछ हो रहा है वही उनकी रचनाओं में स्थान नहीं पाता था, बलिक कैसी परिस्थिति में क्या होना चाहिए, इस बात की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। उनकी कृतियाँ इसी जगत की होती हुई भी स्वर्ग की ओर संकेत करती थीं। उनकी वाणी इस संसार से सम्बन्ध रखती हुई भी स्वर्गीय गान गाती थी। साहित्य ही क्या हमारे यहाँ की प्रत्येक कला आदर्शवाद की स्वर्गीय दुनियाँ में विचरण करती रही है। प्राचीनता के पृष्ठ-पोषक गुप्तजी ने ठीक ही कहा है—

"हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ॥"

मेरा सबसे प्रिय लेखक

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

रूप-रेखा :—

(१) प्रस्तावना—वीसवीं शताब्दी का सर्वोत्कृष्ट लेखक
(२) हिन्दी-साहित्य को शुक्लजी की देन
(३) शुक्लजी की विशेषताएँ
 (क) लेखक के रूप में
 (ख) कवि के रूप में
 (ग) आचार्य के रूप में
(४) उपसंहार—सारांश

मेरे सबसे प्रिय लेखक हैं, स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। वीसवीं शताब्दी उनसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न, उनसे अधिक योग्य, उनसे अधिक सफल लेखक प्रस्तुत करने में असमर्थ रही है। उन्होंने जिन ग्रन्थ-रत्नों से हिन्दी-साहित्य का कलेवर अलंकृत किया है वे आज ही नहीं सदैव गौरव की वस्तु रहेंगे और सदैव उसके शरीर की शोभा बढ़ाते रहेंगे। उन पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और रहेगा। गद्य-साहित्य में जिस उच्च आसन पर शुक्लजी आसीन हैं वहाँ तक अभी किसी अन्य लेखक की पहुँच नहीं हो सकी है। उन्होंने जिस विषय पर लेखनी चलाई उसी पर पूर्ण सफलता प्राप्त की। निबन्ध एवं समालोचना जैसे नीरस तथा गंभीर चिंतन-अपेक्षित साहित्य के अंगों को उन्होंने अपनी कृतियों से सुसज्जित किया। निबन्ध-लेखन को उन्होंने उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। समालोचना को उन्होंने नवीन मार्ग प्रदर्शित किया। गुण-दोष विवेचन से आगे बढ़कर कवियों तथा लेखकों की अन्तः प्रकृति का विश्लेषण एवं छान-बीन करके उन्होंने हिन्दी-साहित्य में वैज्ञानिक समालोचना का सूत्रपात किया। सच पूछिए तो उन्होंने निबन्ध और समालोचना के क्षेत्रों में नवीन युग का आरम्भ किया। इन दोनों ही क्षेत्रों को उन्होंने अवनत दशा में पाया और इन्हें अपनी अनुपम प्रतिभा द्वारा प्रौढ़ता की चरमकोटि पर पहुँचा दिया। उनके स्वर्गवास को १५ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। पर आज तक कोई लेखक उनसे उत्तम निबन्ध अथवा समालोचना हिन्दी-साहित्य को भेंट नहीं कर सका है।

हिन्दी साहित्य शुक्लजी की देन का सदैव आभारी रहेगा। क्या गद्य, क्या पद्य, साहित्य के दोनों अंगों की पूर्ति के लिए उन्होंने कई उत्तम रचनाएँ कीं। गद्य-रचनाओं में 'विचार-वीथी', 'काव्य में रहस्यवाद', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'चिन्तामणि', सूर और जायसी की समालोचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पद्य-रचनाओं में 'बुद्ध-चरित' उल्लेखनीय है। 'आमन्त्रण', 'हृदय का मधुर भार', 'वसन्त-पथिक', 'शिशिर-पथिक' आदि फुटकल कविताएँ भी उन्होंने लिखीं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों ही उनकी रचनाओं में समादृत हुईं। जहाँ हमें खड़ी बोली का प्रौढ़, परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित स्वरूप 'गोस्वामी तुलसीदास' प्रभृति रचनाओं में दृष्टिगत होता है, वहाँ ब्रजभाषा का प्रौढ़, परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित स्वरूप 'बुद्ध चरित' में मिलता है।

शुक्लजी एक विशेष शक्ति-सम्पन्न लेखक थे। वे बड़े विद्वान, अध्ययनशील और मननशील व्यक्ति थे। यद्यपि उन्होंने द्विवेदी युग में लेखनी चलाना आरम्भ किया था, तद्यपि वे द्विवेदीजी के प्रभाव से बाहर रहे और स्वयं नवीन-युग के निर्माता बने। जहाँ द्विवेदी-युग में अनुकरण एवं विस्तार की प्रधानता रही वहाँ उनके युग में मौलिकता तथा गम्भीरता का समावेश हुआ। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उन्होंने प्रधानतः निबन्ध तथा समालोचना के क्षेत्रों को अपनाया और उन्हें अपनी प्रतिभा से जगमगा दिया। उन्होंने मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक निबन्धों की रचना की। दोनों ही प्रकार के निबन्धों में गम्भीर विवेचन और मानव-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण हुआ है। समालोचना-क्षेत्र में वैज्ञानिकता का समावेश करने का श्रेय उन्हीं को है।

शुक्लजी के गद्य की यह विशेषता है कि गम्भीर से गम्भीर विषय के विवेचन के अन्दर भी कहीं शुष्कता, जटिलता अथवा अस्पष्टता नहीं आने पाई है। बीच-बीच में शिष्ट तथा मार्मिक परिहास का प्रयोग हुआ है जिससे पाठक यद्यपि खिलखिलाता नहीं, तद्यपि उसका हृदय एक प्रकार की गुदगुदी का अनुभव करता है। ऐसे स्थलों पर उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। जैसे—

"हवा से लड़ने वाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिंदादिली की कद्र न की हो।"

शुक्लजी की गद्य-शैली, समास-शैली का उत्तम उदाहरण है। उसके एक-एक वाक्य में भाव-संसार भरा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लेखक ने एक-एक वाक्य में विचारों को ठूँस-ठूँसकर भर दिया है। उनकी भाषा गठी हुई है। उसमें शब्दाडम्बर का नाम तक नहीं है। विना आवश्यकता के वाक्य पूरक 'है' भी नहीं लिखा गया है। व्यर्थ के शब्द लिखना शुक्लजी की प्रकृति के विरुद्ध था। वास्तव में संक्षेप में भाव प्रकट करना बड़ी बुद्धिमत्ता का कार्य है, जैसा कि शेक्सपियर ने कहा है—"Brevity is the soul of wit."

शुक्लजी का गद्य उनकी व्यक्तिगत गम्भीरता से ओत-प्रोत है। उसमें प्रधानता संस्कृत शब्दों की है। उन्होंने अधिक मननशील साहित्य की उद्भावना की है। अतः भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता हो गई है। जहाँ विषय अपेक्षाकृत सरल और साधारण है वहाँ की भाषा में उर्दू के चलते शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

शुक्लजी के गद्य में यह भी विशेषता है कि सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का निचोड़ कुछ ठोस वाक्यों में मिल जाता है। अंत में 'सारांश यह कि' कहकर वे पुनः प्रतिपाद्य विषय का निचोड़ पाठक के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

ये तो हुईं गद्य-लेखक के रूप में शुक्लजी की विशेषताएँ। अब कवि-रूप में उनकी प्रमुख विशेषताएँ लीजिए। वे बड़े सहृदय व्यक्ति थे और प्रकृति के पुजारी थे। उनकी प्रत्येक कविता से उनका प्रकृति-प्रेम टपकता है। उन्होंने अपनी कविता में प्रकृति का भोला-भाला सामान्यरूप प्रस्तुत किया है, उसके अनुरंजनकारी दृश्यों तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है। उनके प्रकृति-वर्णन के चित्र सजीव हैं।

शुक्लजी ने अपनी कविता में भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। शोक की व्यंजना में तो कमाल किया है। दो पक्तियाँ देखिए—

"चौंकि सो चट पर्‌यो, पीरा परी दारुण जानि।
छाय नयनन नीर खग पै लग्यो फेरनि पानि।"

शुक्लजी के वर्णन अनुपम हैं। इनसे उनकी अपूर्व वर्णन-शक्ति का परिचय मिलता है। उनका सा सूक्ष्म निरीक्षण कम कवियों में पाया जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"लै कै परी कोऊ मृग-शावक हिये तें लाभ,
सोय गयो द्रुगत कुसुम पाय तासु कर।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर वीच,
पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर ॥"

लेखक और कवि-रूप के अतिरिक्त हमें शुक्लजी का आचार्य-रूप भी देखने को मिला है। उन्होंने अवधी, खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा के भेद की जो मार्मिक तथा मौलिक विवेचना की है वह हिन्दी के व्याकरण के लिए गर्व की वस्तु है। उससे सुन्दर विवेचना आज तक कोई आचार्य नहीं कर पाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अलंकार, भाव, रस आदि काव्यांगों की भी विशद व्याख्या अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र की है, जो उनके पांडित्य की प्रतीक है।

सारांश यह है कि शुक्लजी एक महान विभूति के रूप में हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उन्होंने साहित्य के जिस अंग पर लेखनी चलाई उसी पर व्यक्तित्व की छाप लगा दी। "Style is the man himself" के अनुसार उनकी प्रत्येक रचना में उनकी गम्भीर प्रकृति के दर्शन होते हैं और वह पुकार कर कहती हुई प्रतीत होती है, "मैं शुक्लजी की हूँ।" वे एक असाधारण साहित्यकार थे, जिन्होंने अपनी अनुपम प्रतिभा से क्या कविता, क्या निवन्ध, क्या समालोचना, साहित्य के तीनों क्षेत्रों को आलोकित किया और अपनी अनूठी कृतियों से हिन्दी-साहित्य के भण्डार को सम्पन्नता प्रदान की। शुक्लजी जैसा सरल, गम्भीर एवं विद्वान महारथी पाकर हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हो गया।

कविता के अपेक्षित साधन

(१) प्रस्तावना—कविता का लक्षण।
(२) कविता के अपेक्षित साधन—

(क) भाव,
(ख) कल्पना,
(ग) मानव-जीवन,
(घ) प्रकृति,

(ङ) भाषा,
(च) छन्द।

(३) उपसंहार—सारांश।

कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने पृथक्-पृथक् दिया है। कोई अलंकार को कविता मानते हैं तो कोई विशिष्ट पद रचना को। कोई उक्ति के अनूठेपन को कविता कहते हैं तो कोई रमणीय अर्थपूर्ण वाक्य को। इन सबके उत्तर भ्रमपूर्ण हैं। वास्तव में कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करना ही कविता का लक्ष्य है। मानव-हृदय अनेक भावों का भण्डार है। अतः भावों के प्रतिपादन द्वारा ही कविता अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है, सृष्टि के साथ मनुष्य हृदय का सम्बन्ध स्थापित रख सकती है।

यों तो भाव अनेक हैं, किन्तु नौ प्रधान हैं—रति (प्रेम), शोक, क्रोध, उत्साह, हास्य, भय, घृणा, आश्चर्य और विरक्ति। ये स्थायी भाव कहलाते हैं, क्योंकि इनको अन्य भाव दबा नहीं सकते और ये चिरकाल तक रहकर हृदय को तन्मय कर देते हैं। पाठक या श्रोता को रसमग्न करने के लिये कविता में इनका प्रयोग होता है, उसे प्रभावित करने के लिए कविता में ये प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली वृत्ति हृदय में रहती है। मस्तिष्क द्वारा किसी कार्य के गुण-दोषों की विवेचना करके हम उसमें संलग्न अथवा उससे विरत नहीं होते। कोई कार्य कितना ही लाभदायक क्यों न हो, यदि उसमें हमारे हृदय का योग नहीं है, यदि वह हमें अच्छा नहीं लगता, यदि वह हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है, तो हम उसकी ओर हाथ नहीं बढ़ाएँगे। भावों को कविता के प्राण समझिए। बिना इनके वह निर्जीव, नीरस तथा निष्फल है। सच पूछिए तो वह कविता ही नहीं है, तुकबन्दी-मात्र है। देखिये ! निम्नांकित एक उदाहरण, जिसमें भाव-व्यंजना के कारण कविता कितनी सजीव, कितनी हृदयस्पर्शी, कितनी प्रभावोत्पादक हो गई है—

"पर, शिशु का क्या हाल सीख पाया न अभी जो आँसू पीना ?
चूस-चूस सूखा-स्तन माँ का सो जाता रो विलप नगीना ॥

विवश देखती माँ अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती॥

अथवा

"ऊधो इतनी कहियो जाय।
अति कृशगात भई हैं तुम विनु बहुत दुखारी गाय॥
जल-समूह वरसत अँखियन तें हूँकति लीन्हें नाँव।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़ति सोइ-सोइ ठाँव॥"

पर यह सजीवता, यह हृदय-स्पर्शिता, यह प्रभावोत्पादकता संभव नहीं थी, यदि भाव कल्पना की सहायता न लेता। कल्पना द्वारा ही घटना की अवतारणा की जाती है जिससे पाठक या श्रोता के नेत्रों के सम्मुख चित्र उपस्थित हो सके। यद्यपि भाव कल्पना को सहायता विना भी प्रभाव डालता है, तथापि वह उतना स्थायी एवं मर्मस्पर्शी नहीं होता। पूर्ण तथा मार्मिक प्रभाव डालने के लिए, तल्लीन करने के लिए, रस-मग्न करने के लिये, यह आवश्यक है कि कविता में भाव और कल्पना दोनों का प्रयोग हो। रस की उत्पत्ति में विभाव और अनुभावों की सृष्टि कल्पना द्वारा ही होती है। मान लीजिए भयानक रस की उद्भावना करनी है। कल्पना द्वारा किसी घटना का आरोप करना पड़ेगा। जैसे—रात्रि का समय है। निर्जन पथ पर एक मनुष्य जा रहा है। वह यकायक अपने पैरों के पास रेंगते हुए एक सर्प को देखता है। सर्प को देखते ही वह चीखकर भागता है। यहाँ सर्प, रात्रि का समय और निर्जनता विभाव हैं। मनुष्य का भागना अनुभाव है। रस के शेष अंग स्थायी भाव और संचारी भाव तो भाव ही हैं।

केवल कल्पना द्वारा कविता की सृष्टि नहीं हो सकती। कलावाद के पुजारियों की यह धारणा कि अनूठी उक्ति ही कविता है—भ्रमपूर्ण है। वह कविता कविता नहीं है जिसमें केवल कल्पना ही कल्पना हो, जिसमें केवल आकाश में ही उड़ान लगाई गई हो। उसे हम सूक्ति कह सकते हैं। उसको सुनकर अथवा पढ़कर दूर की सूझ के कारण, उक्ति के अनूठेपन के कारण, हम वाह-वाह कर सकते हैं, खिलखिला सकते हैं; पर भावसागर में निमग्न

नहीं हो सकते। केशवदासजी का निम्नांकित सोरठा कविता नहीं है, सूक्ति है—

"चढ्यौ गगन तरु धाइ, दिनकर-बानर अरुण मुख।
कीन्हों झुकि झहराइ, सकल तारका कुसुम बिन॥"

कविता में अलंकार-योजना कल्पना द्वारा की जाती है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत तथा उपमेय के लिए उपमान कल्पना का काम है। अलंकारों से कविता में रमणीयता का समावेश हो जाता है। आचार्य दंडी ने कहा है—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।"

अर्थात् काव्य की शोभा करनेवाले धर्म अलंकार कहलाते हैं।

एक उदाहरण लीजिये और देखिये! किस प्रकार से कविता सुन्दर हो गई है—

"मन अगहुँड़ तनु-पुलक सिथिल भयो,
नलिन-नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ,
कढ़त प्रेम-बल धीर॥

यहाँ संकोच और प्रेम दो भावों का समन्वय हुआ है। कवि ने कल्पना के योग से उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना करके 'गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ' कहा है। भरतजी के पैर संकोच के कारण आगे नहीं पड़ते, मानो कीचड़ में गड़ रहे हों। इस उक्ति में कितनी सुन्दरता है, कितनी स्वाभाविकता है। सचमुच संकोचाधिक्य में आगे बढ़ने में पैरों की ठीक वही दशा होती है जो कीचड़ में फँसे हुए व्यक्ति के पैरों की। कवि की इस उत्प्रेक्षा ने संकोच के भाव की उत्कर्षता प्रदान करके कविता को अधिक सुन्दर बना दिया।

भाव तथा कल्पना के अतिरिक्त कविता का अपेक्षित साधन मानव-जीवन है। बिना इसकी विवेचना के, बिना इसके प्रतिपादन के, सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा नहीं हो सकती। इसके विविध पहलुओं, विविध दशाओं का प्रतिपादन करती हुई कविता मनुष्य समाज के प्रति सहानुभूति का द्वार खोलती है। इसकी मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है। कोई कितना ही कार्यभार से क्यों

न दबा रहता हो, यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो सर्वदा सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार कविता मनुष्य को जड़ होने से बचाती है और सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त कविता मानव-जीवन का प्रतिपादन करके वैयक्तिक-सांत्वना की सामग्री भी जुटाती है। जब मनुष्य को शोक होता है तब 'रामचरितमानस' में विलाप करते हुए शोकाकुल दशरथजी की दशा देखकर अपने हृदय को हल्का करता है। जब मनुष्य पर आपत्ति आती है तब वल्कल वस्त्रधारी राम की वन-मार्ग में पैदल जाते हुए तथा शीत, धूप एवं वर्षा का दुःख सहते हुए देखता है तब वह अपने दुःख को वैसा नहीं समझता।

प्रकृति भी कविता का अपेक्षित साधन है। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं है। फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, मेघ, सागर, नदी, नाले, निर्झर, विद्युत्, खेत आदि प्रकृति के विविध अङ्ग हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करते हैं। जब हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखते हैं तब आह्लादित होते हैं। जब हम अरुणोदय के समय लाल-पीले मेघों की छटा देखते हैं तब हमारा मन उनकी ओर खिंचता है। जब हम चाँदी के समान उज्ज्वल झरने को चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखते हैं तब हमारा मन उसमें लीन हो जाता है। जब हम मेघों की घोर गड़गड़ाहट सुनते हैं तब भयभीत हो जाते हैं। जब हम नदी को बाढ़ के समय मनुष्य, पशु, द्रव्यादि को बहता हुआ देखते हैं तब दुःखी होते हैं। जब हम ओलों द्वारा अपनी खेती को नष्ट हुआ देखते हैं तब शोक-सागर में निमग्न हो जाते हैं। जब हम सिंह को अपने मित्र पर आक्रमण करता हुआ देखते हैं तब क्रोध से भर जाते हैं।

भाषा तो कविता का शरीर ही है। जिस प्रकार शरीर के अस्तित्व से जीव की स्थिति सम्भव है, उसी प्रकार भाषा के अस्तित्व से कविता की स्थिति संभव है। यदि शरीर न हो तो जीव के दर्शन नहीं हो सकते। उसी प्रकार यदि भाषा न हो तो कविता देखने को न मिले। कविता को पाठक के नेत्रों और श्रोता के कानों तक पहुँचाने वाला साधन भी भाषा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के अभाव में न कविता की रचना की जा सकती है और न

कविता प्रेषणीय हो सकती है। अतः भाषा कविता का महत्वपूर्ण अपेक्षित साधन है।

छन्द भी कविता का अपेक्षित साधन है। यह वह साधन है जो कविता पद्य को गद्य से पृथक् करता है। जिस रचना में वर्णों और मात्राओं की गणना तथा यति और गति सम्बन्धी नियम पाए जाते हैं उसे छन्द कहते हैं। छन्द कई प्रकार के होते हैं—मात्रिक, वर्णिक, तुकान्त एवं अतुकान्त। इधर कुछ दिनों से कविता छन्द-बन्धन से मुक्त होने का प्रयास कर रही है। यह स्वतन्त्रता का युग है, फिर कविता ही क्यों परतन्त्र रहे ? फलस्वरूप आधुनिक कई कवि छन्द-मुक्त कविता कर रहे हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"देह के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्छित हुए हो, प्रिय !
जगती मैं ही रही,
गह बाँह-बाँह में भरकर सम्हाला तुम्हें।"

पर यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। छन्द-विधान से कविता में मधुरता आती है, वह संगीतमय हो जाती है। छन्द से मुख मोड़कर कविता अपनी प्रभावोत्पादिका शक्ति खो बैठेगी।

सारांश यह है कि भाव, कल्पना, मानव-जीवन, प्रकृति, भाषा और छन्द ये कविता के अपेक्षित साधन हैं। इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी के पारस्परिक योग से कविता की सृष्टि होती है।

———

हिन्दी-काव्य का स्वर्ण-युग

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना स्वर्ण-युग का अभिप्राय।
(२) हिन्दी-काव्य का स्वर्ण-युग भक्तिकाल क्यों ?
    (क) कवित्व-शक्ति का चरमोत्कर्ष
    (ख) आर्य-संस्कृति का उद्घाटन

(ग) मर्यादा एवं सदाचार की रक्षा

(घ) लोकप्रियता

(३) उपसंहार—अन्य कालों से तुलना और निष्कर्ष

स्वर्ण-युग से तात्पर्य उस युग से है जिसमें उन्नति की पराकाष्ठा हुई हो। हिन्दी-काव्य की उन्नति की पराकाष्ठा भक्ति-काल में हुई। अतः भक्ति-काल हिन्दी-काव्य का स्वर्ण-युग ठहरता है। अब हमें देखना है कि भक्ति-काल में क्यों हिन्दी-काल सर्वोच्च आसन पर आसीन हुआ।

प्रथम कारण कवित्व-शक्ति का चरमोत्कर्ष है। भक्ति-काल ने कबीर, जायसी, तुलसी, सूर आदि ऐसे विशेष शक्ति-सम्पन्न कवियों को जन्म दिया जिन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी-काव्य के कलेवर को विभूषित किया, जगमगा दिया। 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' तो भक्ति-काल की अमर कृतियाँ हैं, हिन्दी-काव्य की निधियाँ हैं। इन काव्यों में तुलसी और सूर की जैसी काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है वैसी हिन्दी-काव्य में अन्यत्र अप्राप्य है। सच पूछिए तो तुलसी और सूर को पाकर हिन्दी-काव्य कृतकृत्य हो गया।

तुलसी के काव्य में मानव-हृदय के समस्त भावों की अनूठी अभिव्यक्ति हुई है। मानव-हृदय पर जैसा विस्तृत अधिकार इस महाकवि का देखा जाता है वैसा हिन्दी के अन्य किसी कवि का नहीं। इसके अतिरिक्त उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति का उद्घाटन भी इसके काव्य में हुआ है। कहीं-कहीं दो-दो तीन-तीन भावों की एक साथ बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है। संकोच और प्रेम की निम्नांकित व्यंजना देखिए—

"मन अँगहुड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच-पंक महँ, कढ़त प्रेम-बल धीर॥"

इनके काव्य में प्रत्येक रस का उद्घाटन सिद्धहस्तता के साथ हुआ है। शृङ्गार रस का कैसा भव्य, कैसा मर्यादित, कैसा सुरुचि-उत्पादक स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों में प्रदर्शित है—

"राम को रूप निहारिति जानकी कंकन के नग की परछाही।
यातें सबै सुधि भूल गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥"

यह तो हुई तुलसी के काव्य की अन्तरात्मा की बात। अब उसका बाह्य-रूप भी देखिए। रूप एवं मुद्राओं के चित्र बड़े सजीव हैं। मृगया खेलते हुए राम की स्वाभाविक मुद्रा पर दृष्टिपात कीजिए—

"जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहें तकत सुभौंह सकोरे।"

तुलसी की प्रबन्ध-पटुता इनकी सबसे बड़ी विशेषता है जो हिन्दी के कदाचित् किसी भी कवि में नहीं पाई जाती। इसी कारण-वश इनका 'रामचरितमानस' हिन्दू-जनता का कंठहार बना हुआ है। उसमें राम-कथा अबाध गति से प्रवाहित हुई है और विभिन्न घटनाएँ शृङ्खला की कड़ियों की भाँति एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। कहीं भी शैथिल्य नहीं है। सफल चरित्र-चित्रण एवं संवाद भी प्रबन्ध-पटुता के अंग होते हैं। तुलसी ने राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, रावण, सीता, मंथरा, कैकेयी आदि के भव्य चित्र अंकित किए हैं। लक्ष्मण-परशुराम-संवाद तथा अंगद-रावण-संवाद भी सुन्दर हैं।

सूर का काव्य भी हिन्दी-साहित्य की विभूति है। उनके पद बड़े ही मार्मिक, बड़े ही हृदय-स्पर्शी हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—

"किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर के पद लग्यो बेध्यो सकल शरीर॥"

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो सके, पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचार किया उसका कोई कोना अछूता न छोड़ा। सूर ने मानव-जीवन की केवल दो ही वृत्तियाँ ली हैं, बालवृत्ति और यौवन-वृत्ति। पर इन दोनों के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक अन्य किसी कवि की नहीं। वात्सल्य और शृङ्गार दोनों ही का उद्घाटन बड़े विस्तार के साथ इन्होंने किया है। संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों की दशाओं की विस्तृत व्यंजनाएँ इनके काव्य में दर्शनीय हैं। बाल-सुलभ चेष्टाओं एवं भावों के न जाने कितने चित्र भरे पड़े हैं। बालकृष्ण के मचलने का एक चित्र देखिये—

"काहे को आरि करत मेरे मोहन ! यों तुम आँगन लोटी ?"

बाल-स्पर्द्धा का यह कैसा सुन्दर चित्र है, देखिये—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
कितिक बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ।"

वियोग-वर्णन में तो मानो सूर ने कलम ही तोड़ दी है । एक से एक उत्तम पद पढ़कर पाठक और सुनकर श्रोता भाव-विभोर हो जाते हैं । नमूना लीजिए—

"अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं ।"

सूर का सबसे मर्मस्पर्शी और वागवैदध्यपूर्ण 'भ्रमरगीत' है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है । ऐसा सुन्दर उपालम्भ-काव्य और कहीं नहीं मिलता । गोपियाँ कृष्णजी के सगुण रूप का परित्याग किस अनूठे ढंग से असम्भव बतलाती हैं, देखिए—

"उर में माखन चोर गड़े ।
अब कैसहुँ निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ॥"

द्वितीय कारण आर्य-संस्कृति का उद्घाटन है । भक्तिकालीन काव्य में आर्य-संस्कृति की सुन्दर झाँकियाँ हैं, हिन्दुओं के आराध्य भगवान् राम और कृष्ण की लीलाओं का उत्तम वर्णन है । 'रामचरितमानस' में आर्य रीति-नीति एवं आचार-विचार की विशद व्यंजना हुई है । उसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की गई है और आर्य-धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । राम-भक्ति में हिन्दू-धर्म के सब पक्षों का समन्वय करके शैवों, वैष्णवों और शाक्तों के झगड़ों का अन्त किया गया है और धर्म को उदार रूप प्रदान किया गया है । यहाँ तक कहा गया है—

"शिव द्रोही मम दास कहावै । सो नर मोहि सपनेहुँ न भावै ।"

'रामचरित मानस' तो ग्रहस्थ्य-जीवन का आदर्श ग्रन्थ है, जो आज भी हिन्दू-जाति का पथ-प्रदर्शन कर रहा है । उसमें पिता-पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक आदि के सम्बन्धों एवं व्यवहारों का संस्कृति-समन्वित स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है । 'सूर सागर' में भी आर्य-संस्कृति की सुन्दर झाँकी है ।

तृतीय कारण मर्यादा एवं सदाचार की रक्षा है । भक्तिकालीन काव्य से मर्यादा की शिक्षा मिलती है । इसके लिये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के चरित्र से बढ़कर अवलम्ब और क्या मिल सकता था ? उसी चरित्र के भीतर

अपनी अलौकिक प्रतिभा से गोस्वामी तुलसीदास ने हृदय की पवित्र से पवित्र वृत्ति, आचरण का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट स्वरूप और मर्यादा का भव्य से भव्य सौन्दर्य प्रदर्शित किया है। कृपा, क्षमा, नम्रता, सुशीलता, सत्यता, उदारता, कृतज्ञता, वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि के साक्षात स्वरूप राम हैं। उन्होंने किस प्रकार परशुराम और समुद्र को क्षमा किया, किस प्रकार हनुमान के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, किस प्रकार विभीषण और सुग्रीव पर कृपा की, किस प्रकार परशुराम के सम्मुख नम्र वचन कहे, किस प्रकार धीरता और गम्भीरता के साथ वनवास के दुःख सहे, किस प्रकार वीरता से पापी एवं दुर्धर्ष राक्षसों का वध किया, यह देखकर हमारा मन प्रसन्न होता है। भाई लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के साथ उनका व्यवहार तथा पिता दशरथ एवं माताओं का आज्ञापालन, उनके भ्रातृप्रेम, पितृप्रेम और मातृभक्ति के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी पत्नी सीता पतिव्रत धर्म की जीती-जागती मूर्ति हैं। पिता दशरथ सत्य-व्रत के साक्षात स्वरूप हैं। राम का वालि-वध और सीता-वनवास और शिव का काकभुशुंडि को शाप मर्यादा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वालि ने अपने अनुज सुग्रीव की स्त्री को अपनी पत्नी बनाया, सीता पर रावण के गृह-निवास का दोषारोपण किया गया और काकभुशुण्डि ने गुरु को प्रणाम नहीं किया। मर्यादा की दृष्टि से तीनों को दण्ड देना अनिवार्य था।

चतुर्थ कारण लोकप्रियता है। भक्तिकालीन काव्य का जनता में सबसे अधिक प्रचार हुआ है। 'रामचरित मानस' और 'सूरसागर' जनता के कण्ठहार बने हुये हैं और भविष्य में भी बने रहेंगे। ये रचनाएँ 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' हैं। अतः जन-जन के हृदय को आकृष्ट करती हैं, जन-जन का पथ-प्रदर्शन करती हैं, जन-जन का जीवन बनाती हैं। 'रामचरित मानस' ने तो हिन्दू-जाति का उद्धार किया है। इस पुनीत ग्रन्थ को पढ़कर न जाने कितने मनुष्य सुधर गये, न जाने कितने सन्मार्ग पर चलने लगे और न जाने कितने भवसागर से पार हो गये। आज भी इसके प्रभाव से प्रत्येक हिन्दू धर्म पर श्रद्धा करता है, सदाचार की ओर प्रवृत्त होता है, पूज्य जनों को मस्तक झुकाता है, विपत्ति में धैर्य रखता है और रामभक्ति का अनुसरण करता है। धन्य है हिन्दू-जाति का कल्याण करने वाला 'रामचरित मानस' और धन्य है इसके रचयिता

गोस्वामी तुलसीदास। यह अमर कृति इतनी जनप्रिय है कि प्रत्येक हिन्दू इसकी पूजा करता है और प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ के रूप में इसका पाठ करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति-काल हिन्दी-काव्य का स्वर्ण-युग है। वीर गाथा-कालीन रचनाओं में युद्ध और प्रेम की प्रधानता रही। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दल-बल के साथ चढ़ाई करना और प्रति पक्षियों को पराजित करके उस कन्या को हरलाना वीरों के गौरव एवं अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार उन रचनाओं में वीर रस प्रधान और शृङ्गार रस गौण रहता था। पर उनमें न कवित्व शक्ति का चरमोत्कर्ष पाया जाता है और न मर्यादा एवं सदाचार का उद्घाटन। अतः वीर-गाथा काल को हम स्वर्णयुग नहीं कह सकते। रीति कालीन रचनाओं में विलासिता एवं वासना का नग्न नृत्य है। उनमें नायक-नायिकाओं की रंगरेलियों एवं शृङ्गार रस की अश्लील सामग्रियों के अतिरिक्त है क्या? अतः रीति काल को भी स्वर्ण युग नहीं कहा जा सकता। आधुनिक कालीन रचनाएं अवश्य ऊँची उठी हैं, किन्तु भक्तिकालीन रचनाओं के स्तर तक नहीं पहुँच पाई हैं। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, मैथिली शरण गुप्त आदि की रचनाएं तुलसी सूर, मीरा, जायसी कबीर आदि की रचनाओं के समान उच्चकोटि की नहीं हैं। उनमें न कवित्व शक्ति का उतना उत्कर्ष है और न उतनी लोकप्रियता। अतः आधुनिक काव्य को भी स्वर्ण युग का स्थान नहीं मिल सकता। यह सौभाग्य तो भक्ति-काव्य को ही प्राप्त है। सच पूछिये तो वीरगाथा-काल, रीति-काल तथा आधुनिक काल का समस्त काव्य भक्तिकाल के अकेले 'रामचरित मानस' पर निछावर होने योग्य है। भक्ति-काल की तुलना में कोई काल नहीं ठहर सकता।

वर्त्तमान हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ

रूपरेखा :—

(१) प्रस्तावना—समयानुसार हिन्दी कविता का रूप-परिवर्तन
(२) वर्त्तमान हिन्दी-कविता की विषय-सम्बन्धी प्रवृत्तियां

(क) करुण की प्रवृत्ति (ख) राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के उद्गार (ग) छायावाद का आधिपत्य (घ) प्रकृति के प्रति अनुराग (ङ) प्रगतिवाद (च) मुक्तकों की भरमार ।

(३) वर्त्तमान हिन्दी-कविता की शैली-सम्बधी प्रवृत्तियाँ—

(क) खड़ी-बोली का आधिक्य (ख) कल्पना की प्रधानता (ग) अलंकारों का सुन्दर प्रयोग (घ) नवीन छन्द-विधान (ङ) व्याकरण की दुर्दशा (च) प्रगीतात्मक शैली की ओर झुकाव

(४) उपसंहार—स्वतन्त्र विकास में हिन्दी कविता का महत्व

संसार परिवर्तनशील है । सभी सांसारिक वस्तुएं समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं । कविता ही को देखिए । समय की प्रवृत्तियों के अनुकूल प्रत्येक भाषा की कविता में रूपान्तर देखा जाता है । हिन्दी-कविता की धारा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही है । इस धारा ने समयानुसार अनेक रूप परिवर्तित किए हैं । वीररगाथा-काल में यह वीर-रसमय रही, रीतिकाल में यह शृंगारमय रही; और आज यह अपना और ही वेश बदले हुए है । हमें यहाँ पर इसकी वर्त्तमान प्रगति और प्रवृत्तियों का ही विवेचन करना है ।

किसी व्यक्ति-विशेष के सुख-दुःख की भावनाएं उसकी सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों पर बहुत कुछ अवलम्वित रहती हैं । प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर उनकी छाप रहती है । पश्चिम के सामाजिक विचारों से वे प्रभावित हो चुके हैं पर अपने समाज की रूढ़ियों के कारण विवश हैं । उनकी आर्थिक स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है । इन परिस्थितियों ने लोगों के जीवन को नीरस बना दिया है । इस नीरसता का रूप हमारी कविता में स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगा है । प्रायः प्रत्येक कवि की रचना वेदना, करुणा, निराशा आदि भावों से ओत-प्रोत होने लगी है । देखिए बाबू मैथिलीशरण गुप्त स्त्री जाति की दीनता पर कारुण्य-पूर्ण विचार प्रकट करते हुए क्या कहते हैं :—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
अंचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

श्रीमती महादेवी वर्मा की तो वंदना चिर-सहचरी ही हो गई है। वे कहती हैं :—

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में।
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में॥

पं० सुमित्रानन्दन पन्त तो जीवन की सरसता के लिये दुःख का होना आवश्यक समझते हैं देखिये—

विना दुख के सब निस्सार,
विना आँसू के जीवन भार।

इसी प्रकार प्रसाद जी, कोशलेन्द्रजी, माखनलाल जी चतुर्वेदी, भगवतीचरण जी वर्मा आदि कवियों की कविताओं में भी करुणा का साम्राज्य देखा जाता है।

इस स्वातन्त्र्य-युग में देशोद्धार तथा स्वतन्त्रता की लहर उठना स्वाभाविक ही है। भरतवर्ष में अगणित वीरों ने देशोद्धार का बाना धारण किये मातृ-भूमि पर अपने जीवन का बलिदान चढ़ाया है। राष्ट्रीय जाग्रति के लक्षण सर्वत्र दिखलाई देते हैं। ऐसे वातावरण में कवियों की वाणी भी राष्ट्रीयता के रंग में रँगी हुई देखी जाती है। देखिये माखनलालजी चतुर्वेदी पुष्प-रूप में किस प्रकार अपनी अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं।

मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की जालियाँवाले बाग में बसन्त, विजयी मयूर, विजया-दशमी, विदाई, स्वदेश के प्रति शीर्षक कविताएँ राष्ट्रीयता से भरी हुई हैं। विजया-दशमी की चार पंक्तियाँ देखिए—

पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ
दहला दें ब्रह्मांड सखी।
भारत-लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लंका-कांड सखी॥

श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दी घाटी' स्वतन्त्रता से ओत-प्रोत है। उसमें स्वतन्त्रता की अलख जगाने वाले वीर महाराणा प्रताप के गौरव तथा हल्दीघाटी के अमर युद्ध का सजीव वर्णन है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

रक्षा की तलवार उठाकर,
समर किया लाखों से।
पोंछ दिया आँसू प्रताप ने,
माता की आँखों से॥
निकल रही जिसकी समाधि से,
स्वतन्त्रता की आगी।
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है,
वह स्वतन्त्र वैरागी॥

मैथिलीशरणजी गुप्त, वियोगी हरिजी, प्रसादजी, बालकृष्णजी शर्मा आदि की रचनाएँ भी देश-प्रेम का मधुर राग अलापती हैं।

प्रेम के लोकोत्तर रूप को लेकर कविता में उसकी अभिव्यंजना करना वर्त्तमान काल का प्रधान लक्षण है। कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की व्यंजना करते हुये देखे जाते हैं। उनकी वाणी में अलौकिक प्रेम की विकलता ही अधिक देखी जाती है। वे अपने प्रियतम या प्रियतमा ईश्वर के साक्षात्कार के अभाव में तड़पते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओं को रहस्यवाद या छायावाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, दूसरे प्रतीकात्मक शैली के रूप में। प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत के स्थान पर किसी अप्रस्तुत का वर्णन छायारूप में होता है। वर्त्तमान काल में प्रसादजी, पंतजी, निरालाजी, डा० रामकुमार वर्मा और महादेवीजी छायावादी कवियों में प्रमुख हैं। निरालाजी की छायावादी कविता की एक पंक्ति लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में।

प्रसादजी की भी कुछ छायावादी पंक्तियाँ देखिए—

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप ॥
जल-थल, मारुत-व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज खोज कर खो गई मैं पागल-प्रेम-विभोर ॥

आजकल की छायावादी रचनाओं में प्रायः प्रेमी हृदय की आर्द्रता और गम्भीरता वैसी नहीं देखी जाती जैसी जायसी और कबीर की रहस्यवादी उक्तियों में देखी जाती है। आजकल की छायावादी रचनाएँ कभी-कभी कल्पना-प्रसूत भी देखी जाती हैं जो हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं डालतीं। वास्तव में हृदय से निकलने वाली कविता ही हृदय में प्रवेश करती है। जायसी की यह उक्ति—

पिउ हिरदय में भेट न होई।
कोरे मिलाव कहौं केई रोई ॥

पाठक के हृदय को स्पर्श किए विना नहीं रह सकती।

वर्त्तमान हिन्दी कविता में प्राकृतिक वर्णनों की प्रचुरता भी देखी जाती है। आजकल हमारे कवि प्रकृति से अनुराग करने लगे हैं। आलंकारिक रूप में प्रकृति का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। प्राचीन कविगण प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग प्रायः अलंकार सामग्री के रूप में करते थे। इसके अतिरिक्त उद्दीपन विभाग के रूप में भी प्रकृति काव्य में प्रयुक्त होती थी। कुछ इने-गिने कवियों को छोड़कर प्रकृति को काव्य का वर्णनीय विषय किसी ने नहीं बनाया। कारण स्पष्ट है। हिन्दी के प्राचीन कवियों के हृदय में प्रकृति के प्रति अनुराग न था। आजकल अङ्गरेजी-साहित्य के सम्पर्क से हमारे कवि प्रकृति-चित्रण की ओर उन्मुख हुए हैं। प्रसादजी, पंतजी, महादेवीजी, गुप्तजी, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने प्रकृति का अच्छा चित्रण किया है। गुप्तजी की ये चार पंक्तियाँ देखिए, जिनमें उन्होंने एक पक्षी का बड़ा स्वाभाविक चित्र खींचा है—

फैलाये यह एक पक्ष, लीला किये,
छाती पर भर दिये, अङ्ग ढीला किये।
देखो ग्रीवा भंग-संग किस ढंग से,
देख रहा है हमें विहंग उमंग से॥

'ग्राम-श्री' शीर्षक कविता से पंतजी की ये चार पंक्तियाँ भी देखिये—

"फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटी जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली"

इधर कुछ दिनों से हमारे कवि समाजवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। अतीन्द्रिय जगत की सैर करने वाली छायावादो कविता अब समाज की वास्तविकता की ओर उन्मुख हो रही है। कवियों की रचनाओं में पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जारही है, किसान मजदूर आन्दोलन को स्थान मिल रहा है। किस प्रकार जमींदार और पूँजीपति क्रमशः कृषकों और श्रमिकों का आर्थिक शोषण करते हैं, रक्त चूस-चूसकर तिजोरियाँ भरते हैं, उनकी पसीने की कमाई से स्वयं तो मखमल के गद्दों पर पड़े हुए विलास-सागर में निमग्न रहते हैं; किन्तु उन बेचारों को दिन-रात पिसते रहने पर भी पेट भरने के लिये पर्याप्त रोटियाँ और शरीर ढकने के लिये पर्याप्त वस्त्र भी नहीं प्रदान करते, इसका नग्न चित्र समाजवादी कवियों की रचनाओं में देखा जाता है।

इस प्रकार की कविताएँ 'प्रगतिवादी' कहलाती हैं। प्रगतिवाद को प्राचीन कविता का प्रतिक्रिया-स्वरूप समझना चाहिए। अब तक कविता में प्रायः उच्च श्रेणी के लोगों का जीवन प्रतिपादन होता था निम्न श्रेणी के मनुष्यों के जीवन को उसमें स्थान नहीं मिलता था। अब कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। वे किसानों और मजदूरों के जीवन को अपनी कविता का विषय बनाने लगे हैं। किसानों एवं मजदूरों के जीवन की साधारण से साधारण वस्तु उनकी कविता में स्थान पाने लगी है। श्री भगवतीचरण-वर्मा की 'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

"हिलती डुलती, हँफती कँपती,
कुछ रुक रुककर, कुछ सिहर सिहर,
चरमर चरमर—चूँ—चरर—मरर,
जा रही चली भैंसागाड़ी ।"

दिनकरजी की एक रचना देखिए—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे वालक चिल्लाते हैं ।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं ।।
युवती के लज्जा वसन वेच जव व्याज चुकाये जाते हैं ।
मालिक जव तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य वहाते हैं ।।

'साहित्य समाज का दर्पण है'—उक्ति के अनुसार समाजवादी भावनाओं का चित्रण कविता में होना ही चाहिए; पर 'प्रगतिवाद' के नाम के कुत्सित, निकृष्ट; और कभी-कभी वीभत्स रचनाओं को प्रोत्साहन मिलने से कला के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' आदर्श को अवश्य धक्का लगेगा । कला यथार्थ जीवन की विवेचना अवश्य करे; किन्तु असुन्दर एवं अशिव का प्रतिपादन न करे ।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता प्रवन्ध-काव्य से मुख मोड़कर मुक्तक की ओर अग्रसर हो रही है । आजकल मुक्तकों की भरमार देखी जाती है । प्रायः कविगण छोटे-छोटे विषयों को लेकर पद्यात्मक निबन्ध लिखते हैं; जैसे—झरना, आँसू, फूल, विषाद, वसन्त, छाया, वालापन, विदा तांडव, मिलन आदि । यह समय का प्रभाव है । आजकल कवियों में प्रवन्ध-पटुता की कमी देखी जाती है । जो इने-गिने प्रबन्ध-काव्य हैं वे भी कुछ-न-कुछ अंशों में असफल हैं । मानव-कार्य-क्षेत्र जटिल हो जाने के कारण आजकल कवित्व-शक्ति के विकास के लिए समुचित स्थान ही नहीं रह गया है ।

यह तो हुई वर्तमान-कविता के विषय की वात । अब उसकी शैली को लीजिए । शैली में भाषा, कल्पना, छन्द, व्याकरण आदि का प्रधान स्थान है । वर्त्तमान कविता का पद-विन्यास कोमल और अत्यन्त सुन्दर होता है, पर उसमें लाक्षणिकता लाने के लिए अँग्रेजी भाषा का पल्ला पकड़ा जा रहा है । अँग्रेजी भाषा की लाक्षणिक पदावलियों का ज्यों का त्यों अनुवाद रख कर

आजकल के कवि अपनी रचनाओं को सजाने लगे हैं; जैसे—पंतजी ने Innocent eyes पदावली का अनुवाद 'अज्ञान-नयन' करके निम्नलिखित पंक्तियों में रख दिया है—

कान से मिले अजान नयन।
सहज था सजा सजीला तन ॥

रत्नाकरजी ने भी Vacant looks के लिए 'चख रीतैं' प्रयोग किया है। देखिए—

इमि बिलखत बतरात चकित चितवत चखरीतैं।

इसी प्रकार Dreamy Splendour के लिए 'स्वप्निल आभा' और Golden dream के लिए 'स्वर्णस्वप्न' प्रयोग कवियों ने किए हैं। हिन्दी में लाक्षणिक शक्ति अँग्रेजी से कम नहीं है। फिर क्या आवश्यकता है कि हम लाक्षणिक पदावलियों के लिए किसी विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण करें? हिन्दी की लाक्षणिक पदावलियों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि वे अस्वाभाविक होकर खिलवाड़ न हो जायँ। अभिलाषाओं का सोना और जगना तो स्वाभाविक पदावलियाँ हैं, पर उनका करवटें बदलना भद्दापन दिखाता है प्रसादजी की इन पंक्तियों को देखिए—

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना ॥

वर्त्तमान हिन्दी कविता की भाषा प्रधानतः खड़ी बोली है। हाँ, ब्रजभाषा का भी कोई-कोई कवि प्रयोग करता है, पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत थोड़ी है। वास्तव में ब्रजभाषा के दिन अब नहीं रहे हैं। उसकी धारा तो रत्नाकरजी के साथ ही रत्नाकर में विलीन हो गई है, यदि ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। आजकल की कविता में प्रायः खड़ी बोली का बड़ा ही अव्यवस्थित तथा अपरिष्कृत रूप देखा जाता है। परन्तु बाबू मैथिलीशरण और ठाकुर गोपालशरणसिंह सरीखे कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली अपना व्यवस्थित और विशुद्ध रूप भी दिखा रही है।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता में अङ्गरेजी कविता के अनुकरण से कल्पना का प्राधान्य देखा जाता है। आजकल भाव-प्रधान कविताओं की कमी है

और बुद्धि-प्रधान कविताओं की प्रचुरता। कल्पना काव्य की सहायता अवश्य कर सकती है, पर वह काव्य का सब-कुछ नहीं हो सकती। अलंकारादि के रूप में वह भावों की व्यंजना अधिक मार्मिक कर सकती है, किन्तु वह काव्य का साध्य नहीं हो सकती। भाषा के साथ खिलवाड़ करके वह चमत्कार-विधान भले ही कर दे, परन्तु सच्ची कविता की उत्पत्ति नहीं कर सकती। आजकल के हिन्दी कवि कल्पना के पीछे बुरी तरह पड़े हैं। पंतजी की 'छाया' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदितभावाकुल भाषा-सी
कटी-छटी नव-कविता-सी।

चमत्कार-विधान जिसको 'अभिव्यञ्जनावाद' कहते हैं वर्त्तमान काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। 'अभिव्यञ्जनावाद' में उक्ति के चमत्कार को ही कविता माना जाता है, उक्ति द्वारा व्यञ्जित भाव को नहीं। आजकल के अधिकांश कवियों का लक्ष्य मानव-जीवन का चित्रण न करके मस्तिष्क को खरोंच-खरोंच कर अनूठी उक्तियाँ कह देना मात्र है। हमारे पूर्वजों ने काव्य का लक्ष्य मानव-जीवन के मार्मिक चित्रण द्वारा आत्मा की उच्चता रक्खा है। पश्चिम वालों की भाँति 'कला, कला ही के लिए' सिद्धान्त हमारे यहाँ साध्य कभी नहीं माना गया है। हमारे यहाँ काव्य-कला को साध्य न मानकर उसको साधन-मात्र माना गया है। वास्तव में चमत्कृत करने वाली उक्ति को ही कविता समझ बैठना भारी भूल है। काव्य का कार्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं, बल्कि भावों के रूप में जीवन का चित्रण है। कविता का प्राण भाव, है, कल्पना नहीं।

आजकल की कविता में अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग होता है। कविगण प्रायः मूर्त उपमेय सादृश्य के लिए अमूर्त उपमानों का उपयोग करते हैं। जैसे—'शैशव की स्मृति सी सुकुमार' (पंत)। इसी प्रकार सूक्ष्म भावों की मूर्त्तोपमा भी देखी जाती है; जैसे—विषाद को इन पंक्तियों में मूर्त्तिमान माना गया है—

कौन, प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में ।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में ॥
(प्रसाद)

स्वाभाविकता भी वर्त्तमान कविता में प्रयुक्त अलंकारों की एक विशेषता है । देखिये निम्नांकित पंक्तियों में पंतजी लहर का सादृश्य नवोढ़ा नायिका से दिखलाते हुए कैसी स्वाभाविक अलंकार-योजना करते हैं—

नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिग रुक कर सरकती है सत्वर ।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता में विभिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग हो रहा है और नए-नए छंदों की उत्पत्ति भी हो रही है । बहुत-सी रचनाएँ भिन्न-तुकांत छंदों में की जा रही हैं । पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' नामक प्रबन्ध-काव्य भिन्न-तुकांत छंदों में ही लिखा है । इधर कुछ दिनों से बङ्गला के अनुकरण पर हमारी वर्त्तमान कविता छंद से मुक्त होने का प्रयास करर ही है । छंद रूपी बंधन तोड़कर आजकल की कविता स्वच्छन्द रूप से विचरण करना चाहती है । पर यह अच्छा नहीं । छंद से कविता में मधुरता आ जाती है, कविता संगीतमय हो जाती है । कविता को छंद से अलग कर देने से उसकी प्रभावोत्पादकता में भारी कमी आ जायगी । निरालाजी की 'जूही की कली' शीर्षक छंद-मुक्त कविता शुष्क और गद्य-सी प्रतीत होती है । कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

विजन-वन बल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल तनु तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में ।

कुछ कवि आजकल व्याकरण की भी उपेक्षा कर रहे हैं । पंतजी तो शब्दों से स्त्रीलिंग-पुल्लिग का पचड़ा ही हटाना चाहते हैं । वे 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' तोड़ने के पक्षपाती हैं । 'प्रभात' शब्द पुल्लिग होते हुए भी पंतजी की दृष्टि में स्त्रीलिंग है । इसी प्रकार अन्य कई प्रयोग भी व्याकरण से अनुमोदित

नहीं हैं। विराम चिन्हों की आजकल बड़ी दुर्दशा है। कोई कवि पूर्ण विराम (।) के स्थान पर सम्बोधन का चिन्ह (!) लगा देता है, तो कोई आवश्यकता न होने पर भी डैश (—) का प्रयोग कर देता है। जैसे—

इन ललचाई आँखों ने—
देखा है कौन खजाना ?

वर्त्तमान हिन्दी-कविता पाश्चात्य लिरिक (Lyric) शैली का अनुकरण कर रही है। पंतजी, महादेवीजी, निरालाजी, प्रसादजी आदि लिरिक अर्थात् प्रगीतात्मक शैली को अपनाए हुए हैं।

अन्त में हमें यही कहना है कि वर्त्तमान हिन्दी कविता कुछ अंशों में दूसरों का अनुचित अनुकरण कर रही है। यह हमारी कविता को शोभा नहीं देता। अनुकरण सदैव अच्छी बातों का होना चाहिए। जिन बातों का अनुकरण करने से हमारी कविता का रूप विकृत होता जा रहा है, वह अपने उद्देश्य से परे होती जा रही है, इनको त्यागने में ही हमारा कल्याण है। अपनी कविता का स्वतन्त्र विकास करने में ही हमारा महत्व है।

———

हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

रूपरेखा—

(१) प्रस्तावना—कविता और मानव-जीवन का सम्बन्ध मानव-जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध।
(२) संस्कृत काव्य में प्रकृति-चित्रण।
(३) हिन्दी-कविता में तीन प्रकार का प्रकृति-चित्रण—
(क) अलंकारों के उपमान-रूप में (ख) भावों के उद्दीपन रूप में, (ग) वर्णनीय विषय के रूप में, (अ) वस्तु-नामावली, (आ) संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण, (इ) अनुरंजनकारी दृश्यों का ही समावेश, (ई) प्रकृति के भोले-भाले सामान्य रूप का चित्रण।
(४) उपसंहार—आधुनिक कवियों का प्रकृति-प्रेम।

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य स्थापित करना ही कविता का लक्ष्य है। मानव-हृदय अनेक भावों—प्रेम, करुणा, क्रोध, उत्साह, भय आदि का भण्डार है। इन भावों का व्यायाम तभी हो सकता है जब कविता इनका सम्बन्ध संसार की विभिन्न वस्तुओं के साथ स्थापित कर दे, जब कविता जगत और जीवन के व्यापारों का मार्मिक प्रतिपादन करती हुई हमारे हृदय की वृत्तियों को उनमें लीन कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के दो क्षेत्र हैं—मानव-जीवन; और प्रकृति। हिन्दी के कवियों में अधिकांश ने मानव-जीवन को ही अपनी कविता का विषय चुना है, प्रकृति को नहीं। पर कहना न होगा कि प्रकृति में हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं, वल्कि मानव-जीवन की अपेक्षा अधिक है। फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, मेघ, नदी, नाले, निर्झर, खेत, विद्युत् आदि प्राकृतिक वस्तुएँ हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करती हैं। जव हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखते हैं तव आह्लादित होते हैं। जब हम किसी वाटिका में विकसित फूलों को देखते हैं तब आनन्द से भर जाते हैं। जव हम अरुणोदय के समय लाल-पीले मेघों को देखते हैं तब हमारा मन उनकी ओर आकर्षित होता है। जब हम चाँदी के समान उज्जवल नदी या झरने को चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखते हैं तब हमारा मन उसमें लीन हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि कवि हमारे भावों के उद्बोधन के लिये प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करे, प्रकृति को कविता का विषय बनाकर उसका मार्मिक चित्र अङ्कित करे।

संस्कृत-काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के बहुत सुन्दर वर्णन मिलते हैं। आदि कवि वाल्मीकि, कालीदास, भवभूति आदि ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य प्रदर्शित किया है। रामायण, कुमार-संभव, रघुवंश, उत्तर-राम-चरित आदि में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर संश्लिष्ट चित्र पाए जाते हैं। वाल्मीकिजी ने प्यासे पक्षियों द्वारा पत्ती की नोकों पर लगे हुए जल को पीने के दृश्य का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्र पुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णांच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिवंति ॥

वास्तव में इस प्रकार के वर्णनों में कवि ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बनाया है, किसी भाव को सहायक नहीं।

हिन्दी-कविता में जो कुछ प्रकृति-वर्णन मिलता है वह प्रायः तीन प्रकार का है—(१) अलंकारों के उपमान-स्वरूप में, (२) भावों के उद्दीपन-स्वरूप में; और (३) वर्णनीय विषय-स्वरूप में।

हिन्दी-कविता में प्रकृति का उपयोग उपमान-रूप में बहुत हुआ है। कवियों ने कहीं पर नायिका के मुख को कमल के समान सुन्दर बताया है, तो कहीं पर निर्दय मनुष्य के हृदय को पत्थर के समान कठोर। कहीं पर अधर को विद्रुम या विम्वाफल से समानता दी है, तो कहीं पर शरीर को विश्रुत के समान कहा है। कहीं पर मुख में चन्द्रमा की सम्भावना की है, तो कहीं पर नेत्रों में मछली की। गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित दो पंक्तियाँ देखिये; जिनमें उन्होंने प्रकृति का इसी रूप में उपयोग किया है—

लता भवन ते प्रकट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल विधु, जलद पटल बिलगाइ ॥

सूरदासजी का भी यह वर्णन देखिए —

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिवदल, इंदीवर, शतदल, कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत, ये बिगसे दिनरात ।।
अरुन असति सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिल आगम कीन्हों आय ॥

इसी प्रकार एक कवि ने रोती हुई नायिका का वर्णन किया है। देखिए —

कनक लतानि इन्दु, इन्दु माँहि अरिबिन्द,
झरैं अरबिन्दन तें बुन्द मकरन्द की।

इसी प्रकार सभी हिन्दी-कवियों ने नख-शिख-वर्णन में प्रकृति का भद्दा उपयोग किया है। वास्तव में अलंकारों की सामग्री के रूप में प्रकृति का कुछ भी अच्छा वर्णन नहीं होता। ऐसे स्थलों पर पाठक या श्रोता का ध्यान उपमेय पर ही रहता है, उपमान पर नहीं। प्रकृति उपमेय की सहायक होकर आती है, प्रधानता उपमेय की ही रहती है। कवि का उद्देश्य भी उपमेय-वर्णन ही होता है।

भावों के उद्दीपन-रूप में भी हिन्दी के कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का अधिक वर्णन किया है। शृङ्गार-रस में शीतल पवन, निर्जन उद्यान, खिले हुए पुष्प, चाँदनी रात आदि प्रकृति के रूप उद्दीपन-विभाव का कार्य करते हैं। इनसे प्रेम का भाव उद्दीप्त होता है, प्रज्ज्वलित होता है। देखिए, तुलसीदासजी की सीता के वियोग को प्रकृति किस प्रकार उद्दीप्त करती है—

नूतन किसलय मनहु कृसानू। काल निसा सम निसि शशि भानू॥
कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा। वारिद तप्त तेल जनु वरिसा॥

सूरदासजी की गोपिकाएँ भी कुञ्जों को देखकर विरहोद्दीप्त होती हैं। वे कहती हैं—

विन गोपाल वैरिन भइँ कुंजैं।
तव ये लता लगति अति शीतल, अव भइँ विषम ज्वाल की पुंजैं।

विहारी की भी नायिका कहती है—

विगसत नववल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय
परसि प्रजारति बिरह-हिय, बरसिरहे की बाय॥

प्राचीन हिन्दी-कवियों ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बहुत कम बनाया है। हाँ; इधर कुछ दिनों से कवियों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित हुआ है। आजकल के कवि झरना, पुष्प, बसन्त, पावस आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्गों पर सुन्दर स्वतन्त्र रचनाएँ करने लगे हैं। इस प्रकार की रचनाएँ दो श्रेणियों में रक्खी जा सकती हैं। एक श्रेणी को वस्तुनामावली वाली श्रेणी और दूसरी को संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण वाली श्रेणी कह सकते हैं। वस्तुनामावली में प्राकृतिक वस्तुओं का परिगणन मात्र रहता है। कवि उनका नाम गिनाता चलता है। संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण में किसी दृश्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का

उसके आस-पास की परिस्थिति के साथ ऐसा मिला हुआ वर्णन रहता है कि पाठक या श्रोता के नेत्रों के सामने उस दृश्य का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है।

पहले वस्तुनामावली-रूप में प्रकृति का वर्णन देखिए। आचार्य केशवदास विश्वामित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं॥

इसमें वृक्षों और पक्षियों के नाम तो गिनाए ही गए हैं, पर एक बड़ा दोष यह है कि स्थान का ध्यान विल्कुल नहीं रक्खा गया है। केशवदास ने यह नहीं विचारा कि ये सब वस्तुएँ मगध के जंगल में होती भी हैं या नहीं। वस्तुतः केशवदास ने स्वयं प्रकृति का कभी निरीक्षण नहीं किया। वे तो अपने काव्य में प्रकृति की अवतारणा कल्पना द्वारा करते थे। जायसी में भी वस्तुनामावली की प्रवृत्ति देखी जाती है। देखिये; भिन्न-भिन्न वृक्ष और पक्षियों के नाम उन्होंने किस प्रकार दिये हैं—

लवंगे सुपारी जायफर सव फर फरे अपूर
आस-पास घन इमली औ घन तार खजूर॥

× × × ×

भोर होत बोलहिं चुहचूही। बोलहिं पांडुक "एकै तूही।"
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परेवा औ करवरहीं॥
"पीव-पीव" कर लाग पपीहा। "तुही-तुही" कर गडुरी जीहा॥
"कुहू-कुहू" करि कोइल राखा। औं भिंगराज बोल बहु भाखा॥

या फूल तें वा फूल पै जो चपल गति सों धावतीं।
सित, पीत, नील, सुरंग चित्रित पंख को फरकावतीं॥

(रामचन्द्र शुक्ल)

प्रकृति को आलम्बन बनाने वाली कविताओं का एक दूसरे ढङ्ग से भी विभाजन किया जा सकता है। एक वे हैं जिनमें प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों

का ही समावेश हुआ है। दूसरी वे हैं जिनमें प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित किया गया है। श्रीधर पाठक, पं० सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा आदि की काव्य-रचनाओं में प्रकृति का चित्ताकर्षक रूप ही देखा जाता है। पाठकजी के 'काश्मीर-वर्णन' की कुछ पँक्तियाँ देखिए—

चहुँ दिसि हिम गिरि-सिखर, हीर-मन मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु॥
फल फूलनि छवि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सो निधि रतनन की॥

पन्तजी का गंगा-वर्णन देखिए—

तापस-बाला-सी गङ्गा कल; शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।

पन्तजी को तो कविता करने की प्रेरणा ही प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। उन्हें प्रकृति से विशेष प्रेम है, जैसा कि निम्नाङ्कित पंक्तियों से प्रकट है—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

पन्तजी ने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में प्रकृति का उग्र रूप भी चित्रित किया है; किन्तु यह रूप उन्हें बहुत कम रुचता है।

महादेवीजी का एक प्रातःकालीन दृश्य देखिए—

"हँस देती जब प्रात, सुनहरे
अंचल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचलीं पड़ती किरणें भोली,

तव कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार।
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार' ॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें संश्लिष्ट योजना का अभाव है।

प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित करने वाले कवि थे स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल। शुक्लजी को गुलाव के फूल को देखकर उतना ही आनन्द आता था जितना एक कटीली झाड़ी को देखकर। प्रकृति के अनुरंजनकारी तथा उग्र दोनों रूपों को देखने की अन्तर्दृष्टि उन्हें मिली थी। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे वर्णन भी किये हैं—

केतकी तर वसत कारो नाग फेंटी मारि।

अब संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण की ओर आइये। गोस्वामीजी तुलसीदास ने गीतावली में चित्रकूट का जो वर्णन किया है उसको पढ़कर नेत्रों के सम्मुख चित्रकूट का चित्र-सा खिंच जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमगि सृङ्गनि।
मनहु आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृङ्गनि ॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बगपाँति सो छवि कवि वरनी।
आदि वराह बिहरि वारिधि मनों उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥

इसमें ध्वनि और वर्णों के विन्यास से चित्र उपस्थित करने की शक्ति आ गई है।

सेनापति का षट्ऋतु-वर्णन हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है। इन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर संश्लिष्ट चित्र खींचे हैं। देखिए—

दामिनि दमक, सुरचाप की चमक,
स्याम घटा की झमक अति घोर घनघोर है।

या

लाल-लाल टेसू फूलि रहे हैं बिसार,
संग स्याम रंग भेंटि मानों मसि में मिलाये हैं।
तहाँ मधु ब्याज आइ बैठे मधुकर पुंज,
मलय-पवन उपवन बन धाये हैं।

ही वहन करती हैं। वे ही घर का अधिष्ठात्री देवी हैं। वे ही गार्हस्थ्य जीवन को स्वर्गीय बना सकती हैं, उसमें सरसता का संचार कर सकती हैं। गृहस्थी रूपी नौका की वे ही पतवार हैं।

हाँ, उनमें कतिपय गुणों की आवश्यकता है। गृहस्थी के काम-काज करने की कुशलता प्रत्येक गृहिणी में होनी चाहिए। इसके बिना उसे अपने क्षेत्र में कभी सफलता नहीं मिल सकती। उसे भोजन बनाना, सीना-पिरोना, बच्चों का लालन-पालन, प्राथमिक चिकित्सा, गृह-व्यवस्था, स्वास्थ्य विज्ञान, परिचर्य्या आदि में दक्ष होना चाहिए। इसके लिये आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही वह अपने माता-पिता के यहाँ उक्त विषयों का अभ्यास करे।

गृहणियों के लिए स्वच्छता-प्रिय भी होना नितान्त आवश्यक है। वे घर को साफ-सुथरा रक्खें, कहीं भी गन्दगी का नामोनिशान न रहे। वे स्वयं अपने तथा अपने बाल-बच्चों के शरीर को निर्मल रक्खें। नित्य स्वयं स्नान करें और अपने बालकों को स्नान कराएं। अपने तथा बच्चों के वस्त्रों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दें। स्वच्छता और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सफाई की अवहेलना करके कोई भी व्यक्ति स्वस्थ नहीं रह सकता। वह मनुष्य क्या कभी स्वस्थ रह सकेगा जो सदैव मैले-कुचैले वस्त्र धारण करे या गन्दी तथा दुर्गन्ध-पूर्ण नालियों के बीच रहे? कदापि नहीं। अतः यदि गृहिणी स्वच्छता का ध्यान न रक्खेंगी तो वह गृह को रोगों का निवास-स्थान बनाएगी।

विनोद-प्रियता भी गृहिणियों के लिये एक आवश्यक गुण है। विनोद जीवन का पौष्टिक रसायन है, भूखे हृदय का भोजन है। दिन भर के थके-माँदे मस्तिष्क को विश्राम प्रदान करने का मनोरंजन से अच्छा कोई साधन नहीं। जब दिन भर परिश्रम करके सायंकाल पुरुष घर लौटता है तब उसे मनोविनोद की भूख सताती है। ऐसे समय यदि गृहिणी संगीतज्ञ हो, तो फिर आनन्द का क्या कहना? ऐसे समय यदि पत्नी सुरीले कण्ठ से गा सकती हो और वाद्य यन्त्रों से मधुर ध्वनि निकाल सकती हो तो आनन्द सवाया हो जाता है। संगीत के अभाव में हास्यमय चेहरा अथवा विनोद पूर्ण बातें भी कम आनन्द की सृष्टि नहीं करतीं।

गृहिणियों में आचरण की सभ्यता होनी चाहिए। उनका चरित्र उज्ज्वल और मनोमोहक हो। उनका स्वभाव सरल और विनम्र हो। मिष्ट-भाषिणी हों और उनमें सहनशीलता का स्वर्गीय गुण विद्यमान हो। वे मितव्ययी हों और बाहरी टीम-टाम से दूर रहें। फैशन का भूत उन पर सवार न हो।

इन गुणों की प्राप्ति के लिए यथोचित शिक्षा की आवश्यकता है। स्त्री पत्नी रूप में हमारी परामर्श-दात्री और माता रूप में हमारी गुरु है। पत्नी के अशिक्षित होने पर पति की शक्ति आधी रह जाती है और गृहस्थी का कार्य भी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। सुशिक्षा से स्त्री की कूप-मण्डूकता और अन्ध-विश्वास दूर हो जाते हैं। वह स्त्रियोचित गुणों को भी प्राप्त कर लेती है।

गृहिणियों का जो रूप ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह गृहस्थ-जीवन के लिए कल्याणकर है। गृहस्थी के सुचारु-संचालन से राष्ट्र-निर्माण में सहायता मिलती है। यदि गृहस्थी का संचालन ठीक न होगा, तो राष्ट्र-निर्माण टेढ़ी खीर है। गृहस्थी की सुव्यवस्था ही उसकी आधार शिला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि गृहस्थी की व्यवस्थापिका, गृहस्थी की अधिष्ठात्री देवी स्त्री है, पुरुष नहीं।

स्त्रियाँ माता रूप में समाज का कल्याण करती हैं। वे अपनी सन्तान को सुशील एवं सुयोग्य बनाती हैं, जिससे राष्ट्र का हित-साधन होता है। उन्हीं की सन्तान देश तथा समाज का नेतृत्व करती है। उन्हीं की सन्तान राष्ट्र-निर्माता बनती है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। हिन्दू धर्म-रक्षक, हिन्दू-जाति-जीवन-दाता, हिन्दू-राष्ट्र-निर्माता, छत्रपति शिवाजी का आविर्भाव करने वाली कौन थी? जीजाबाई नामक स्त्री-रत्न। जीजाबाई ने शिवाजी को शिवाजी बनाया। उन्हें यवनों से टक्कर लेने तथा हिन्दू-जाति की रक्षा के लिये तैयार किया। वे शिवाजी से कहा करती थीं—शत्रुओं को नाश करके कुल का उद्धार करने वाला हमारे कुल में पैदा होने वाला है। पर देखें यह बात कब सत्य होती है। इसका शिवाजी पर भारी प्रभाव पड़ता था उन्होंने जननी के संस्कार और प्रभाव से प्रभावित होकर हिन्दू-जाति का उद्धार किया। उन्होंने मरहठा जाति में जाग्रति पैदा की और उसे एकता के सूत्र में पिरो दिया।

राष्ट्र-निर्माता महात्मा गांधी को देखिए। वे किसके गर्भ से आविर्भूत हुए ? उनकी जन्मदात्री कौन थीं ? एक आदर्श गृहिणी पुतलीबाई, जिन्होंने बाल्यावस्था से ही गांधीजी में महानता के बीज बोए। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप महात्माजी विश्व-भर में प्रतिष्ठा के पात्र बने। उन्हीं के संस्कार प्राप्त करके महात्माजी छिन्न-भिन्न भारत को एक राष्ट्र बनाने में संलग्न हुए। उन्होंने देश में अपूर्व जाग्रति उत्पन्न की और भारत-माता की सूखी नसों में रक्त का संचार किया।

यदि स्त्रियाँ गृहिणी न बनें तो भी वे अपने विशेष गुणों द्वारा समाज का, राष्ट्र का, भला कर सकती हैं। उनमें सहनशीलता और आत्मत्याग के दिव्य गुण होते हैं। राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी जिस कार्य को वे अपने हाथ में लेंगी उसी में सफलता प्राप्त कर सकेंगी। राष्ट्र-निर्माण का कार्य धीमी प्रगति का पौधा है। उसमें सबसे अधिक आत्म-त्याग की आवश्यकता होती है और उससे कम सहनशीलता की। पुरुषों में ये गुण कम होते हैं। स्त्रियों में प्रकृति ने इन्हें प्रचुर मात्रा में पैदा किया है। यदि स्त्रियों को इन गुणों की मूर्ति कहें तो अनुचित न होगा।

सारांश यह है कि स्त्रियाँ राष्ट्र-निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। पत्नी-रूप में वे पति की सहचरी बनकर उन्हें उचित परामर्श देती हुई कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ करती हैं और गृहस्थी का सुसंचालन करती हुई राष्ट्र-निर्माण का मार्ग परिष्कृत करती हैं। माता रूप में वे शिवाजी, गाँधीजी सरीखी सन्तान उत्पन्न करके समाज-संगठन, देशोद्धार, राष्ट्रोत्थान आदि का सूत्रपात करती हैं। गृहस्थाश्रम से पृथक् रह कर वे अपने आत्म-त्याग और सहनशीलता नामक विशेष गुणों के सहारे समाज-सेवा करती हुई राष्ट्रोपयोगी कार्यों में पूर्ण सफलता प्राप्त करती हैं। पाश्चात्य स्त्रियों ने राष्ट्र-निर्माण में इस प्रकार पर्याप्त योग दिया है और हमारे यहाँ की स्त्रियाँ भी उनके मार्ग का अवलम्बन करती हुई इस दिशा में अग्रसर हो रही हैं। हमारे आदर्श राष्ट्र-निर्माता महात्मा गांधी ने नारियों को राष्ट्र-निर्माण के कार्य के अधिक उपयुक्त ठहराया है, जो ठीक ही है।

युद्ध से हानि-लाभ

रूप रेखा —

(१) प्रस्तावना—प्राणी-मात्र में लड़ने की कुप्रवृत्ति; युद्ध के दो रूप
(२) युद्ध से हानियाँ—
 (क) अगणित मनुष्यों का वध और उससे समाज का अहित
 (ख) अगणित स्त्रियों के विधवा होने से दुराचार का प्रचार
 (ग) पिता की मृत्यु से अनेक बालक-बालिकाओं का अनाथ हो जाना
 (घ) पराजित देश या जाति की दुर्दशा
 (ङ) आर्थिक दशा पर कुठाराघात
(३) युद्ध से लाभ—
 (क) बेकारी का निराकरण
 (ख) विजयी राष्ट्र को अधिकार की प्राप्ति
(४) उपसंहार—सारांश

मनुष्य की कुप्रवृत्तियों में लड़ने की कुप्रवृत्ति भी एक है। मनुष्य में ही क्यों प्राणीमात्र में लड़ने की मनोवृत्ति पाई जाती है। एक कुत्ता दूसरे कुत्ते से लड़ता है। एक बन्दर दूसरे बन्दर से लड़ता है। एक पक्षी दूसरे पक्षी से लड़ता है। पशु-पक्षियों में जो लड़ाई होती है उसका कारण अधिकार-चेष्टा अथवा भोजन-पदार्थ होता है। मनुष्यों की पारस्परिक लड़ाई का कारण स्वार्थ-संघर्ष होता है। इसके चक्कर में पड़कर मनुष्य अपनी मनुष्यता खो बैठता है। हिंसा-दावानल में उसकी आत्मिक शक्ति जल जाती है। वह मनुष्य से राक्षस बन जाता है। लड़ाई का वृहत् रूप युद्ध होता है। यह दो या दो से अधिक जातियों या देशों में होता है, केवल दो-चार मनुष्यों में नहीं।

युद्ध दो प्रकार के देखे गए हैं—(१) धर्म-संस्थापनात्मक और (२) राज्य-विस्तारात्मक। एक में युद्ध का कारण अधर्म का निराकरण करके धर्म की संस्थापना रहती है और दूसरे में राज्य का विस्तार। राम-रावण-युद्ध एवं महाभारत धर्म-संस्थापनात्मक युद्ध थे और जापान-चीन-युद्ध एवं जर्मन-अँग्रेज-युद्ध राज्य-विस्तारात्मक। समाज की संरक्षा के लिए पहला नितान्त आवश्यक है। यदि अधर्म का निराकरण नहीं होगा तो समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

धर्म-संस्थापनात्मक युद्ध की जड़ में पारमार्थिक भावना कार्य करती है। राज्य-विस्तारात्मक युद्ध पूर्णतः स्वार्थ पर अवलम्बित होता है।

दोनों प्रकार के युद्धों से अनेक हानियाँ हैं। युद्ध में अगणित निरीह मनुष्यों का वध होता है। बड़े बड़े वीर, बड़े-बड़े कलाकार, बड़े-बड़े विद्वान, बड़े-बड़े बुद्धिमान युद्ध में काम आते हैं। इससे समाज की हानि होती है। उसकी उन्नति रुक जाती है। उसकी सभ्यता पर कुठाराघात होता है। उसकी शक्ति कम हो जाती है, वह दीन बन जाता है। महाभारत से हिन्दू-समाज को जो हानि पहुँची है उसे अंकित करने में जड़ लेखनी असमर्थ है। इससे हिन्दू-सभ्यता चौपट हो गई है। विद्या का सूर्य अस्त हो गया है। वीरता विदाहो गई है। ज्ञान का आलोक अंधकार में विलीन हो गया है।

युद्ध से अगणित स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं; जिससे व्यभिचार फैलता है। उनके पति शत्रु से लोहा लेकर समर-भूमि में सदैव के लिए सो जाते हैं। वे स्त्रियाँ या तो अपनी काम-वासना की शान्ति के लिए या जीविकोपार्जन के लिए अन्य पुरुषों के साथ व्यभिचार करती हैं। हाँ, कतिपय अपना शेष जीवन सदाचारपूर्वक व्यतीत करती हैं किन्तु ऐसी नारियों की संख्या बहुत कम होती है। व्यभिचार का बाजार गर्म होने पर नैतिक जीवन पर कुठाराघात होता है और समाज पतित हो जाता है। इससे वर्ण-संकरों की वृद्धि होती है और अधर्म की चारों ओर तूती बोलती है। व्यभिचार वह विष है जिसकी एक बूँद से ही समाज का नाश हो जाता है।

युद्ध से व्यभिचार ही नहीं फैलता, बल्कि न जाने कितने दुधमुँहे बच्चे शैशवावस्था में ही काल के गाल में चले जाते हैं। अनेक पुरुषों के संहार से उनके आश्रित बालकों का पालन-पोषण करने वाला कोई नहीं रह जाता। माता बच्चे की पालिका होती है, इसमें सन्देह नहीं। पर जिस रुपये से, जिस धन से, वह बालक को पालती है, वह बालक को बड़ा करती है, उसका उपार्जनकर्त्ता पिता ही होता है। पिता की मृत्यु से बालक का वास्तविक अन्नदाता संसार से उठ जाता है। यदि दुर्भाग्यवश पिता ने अपने जीवन-काल में एक कौड़ी भी संचित न की हो तो फिर बालक की दुर्दशा का क्या कहना ? उस बेचारे को पेट भरने के लिए भोजन और शरीर ढकने के लिए वस्त्र

मिलना दुर्लभ हो जाता है। न जाने कितने छोटे-छोटे बालक क्षुधाग्नि में जल कर मर जाते हैं अथवा शीत-काल में काल के ग्रास बन जाते हैं।

युद्ध से पराजित जाति या देश को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। शत्रु उसको कुचल डालता है। अनेक व्यक्ति बन्दी-गृहों में बन्द कर दिए जाते हैं या फाँसी के तख्ते पर लटका दिए जाते हैं। शत्रु उसके ऐतिहासिक स्मृति-चिह्नों को मिटा देता है, उसके धन-धान्य को लूट लेता है, उसकी सभ्यता को पदाक्रान्त करता है, उसके धर्म का उन्मूलन करता है, उसकी भाषा का बहिष्कार करता है, उसके साहित्य को जला डालता है। तात्पर्य यह है कि उसे फिर सिर उठाने के योग्य नहीं छोड़ता। विजित देश या जाति में दरिद्रता का नग्न नृत्य होता है। वहाँ वार-वार दुर्भिक्ष पड़ता है। जन-समुदाय दाने-दाने को तरसता है। यह तो शारीरिक कष्ट की बात हुई। मानसिक दुःख का क्या कहना? चारों ओर उदासी छा जाती है। जनता अपनी दुर्दशा पर आँसू बहाती है। उसके लिए जीवन भार-स्वरूप प्रतीत होगे लगता है।

युद्ध के फल-स्वरूप विजयी और विजित दोनों की ही आर्थिक स्थिति विगड़ जाती है। बहुत सा धन व्यय हो जाता है। कोई-कोई देश तो ऋण-ग्रस्त होकर युद्ध-व्यय चलाता है जिसका दुष्परिणाम उसे पीछे भुगतना पड़ता है। किसी-किसी देश का तो दिवाला निकल जाता है। वह सदैव के लिए दरिद्र बन जाता है। युद्ध के समय व्यापार को भी भारी क्षति पहुँचती है और उद्योग-धन्धों का गला घुट जाता है। प्रायः सभी लोग युद्ध में व्यस्त रहते हैं। कौन वाणिज्य और व्यवसाय की सुध ले?

ये तो युद्ध की मोटी-मोटी हानियाँ हुईं। अब लाभों की ओर आइए। यद्यपि हानियों के घटा-टोप में लाभों की क्षीण किरण लुप्त सी हो जाती है, तथापि उसका अस्तित्व एवं महत्व अवश्य है, अन्यथा युद्ध हो ही क्यों? युद्ध से बेकारी दूर होती है। मृत्यु द्वारा मनुष्यों की संख्या कम हो जाने के कारण उन्हें काम मिलने में कोई कठिनाई नहीं होती; बेकारी तभी फैलती है जब जन-संख्या में अधिक वृद्धि हो जाती है। वास्तव में युद्ध बेकारी की महाव्याधि के शमन का एक साधन है।

युद्ध से विजयी राष्ट्र को अधिकार मिलता है। यह अधिकार दो प्रकार का होता है। धर्म-संस्थापनात्मक युद्ध से धर्म का अधिकार बढ़ता है और अधर्म का अन्त होता है। राज्य-विस्तारात्मक युद्ध से राज्य का विस्तार अधिक होता है, नए-नए भूखण्डों पर अधिकार मिलता है और पराजित राष्ट्र की सम्पत्ति, कोष आदि पर अपना प्रभुत्व हो जाता है।

अन्त में यही कहना है कि युद्ध से जितनी हानियाँ होती हैं उतने लाभ नहीं। लाभ किसी प्रकार हानियों की समता नहीं कर सकते। हाँ, धर्म-संस्थापनार्थ किए गए युद्ध के लाभों के समक्ष हानियाँ नहीं टिक सकतीं, क्योंकि उससे धर्म का प्रचार होता है, समाज की रक्षा होती है। खेद का विषय है कि आजकल धर्म की स्थापना के लिए तो युद्ध होते नहीं, बल्कि राज्य-विस्तार के लिए लोगों के सिर उड़ाए जाते हैं, उन्हें मौत के घाट उतारा जाता है। मनुष्यता का राग अलापने वाली मानव-जाति जमीन के टुकड़ों पर रक्त बहाती हुई देखी जाती है। क्या सभ्यता यही पाठ पढ़ाती है कि स्वार्थ के लिए भाई भाई का रुधिर पान करे? क्या शिक्षा यही सिखाती है कि बलवान राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को कुचल दे, उसको संसार से मिटा दे? क्या ऐसा राष्ट्र किसी हिंसक पशु से कम है।

भारतवर्ष की समृद्धि में कलों का योग

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष की प्राचीन दशा की अर्वाचीन दशा से तुलना
(२) कलों के प्रचार से देश की आर्थिक दशा में सुधार
(३) स्वदेश-निर्मित वस्तुओं के प्रेम के अभाव से इस दिशा में हानि
(४) आयात-निर्यात कर के अहितकर होने से इस दिशा में बाधा
(५) क्या कलों ने देश की सार्वजनिक समृद्धि में योग दिया है?
(६) उपसंहार—सारांश

वह भारतवर्ष जो एक समय 'सोने की चिड़िया' कहलाता था; वह भारतवर्ष जिसमें एक समय दूध-घी की नदियाँ बहती थीं, आज दाने-दाने को तरसता है। फ़ाहियान नामक एक चीनी यात्री ने लिखा है कि भारतवर्ष में मुझे पीने

के लिए जल मिलना दुर्लभ था। जहाँ-कहीं में जल माँगता था वहीं मुझे दूध दिया जाता था। इससे भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का, भारतवर्ष की समृद्धि का, भारतवर्ष के वैभव का पता चलता है। निस्संदेह प्राचीन भारत संसार में सब देशों से अधिक धनाढ्य था। यहाँ बहुत से ऐसे उद्योग-धन्धे प्रचलित थे जिनके द्वारा धन इस देश में खिचा चला आता था। एक वह समय था जब इस देश में इतना बारीक कपड़ा बनता था कि उसका थान का थान अँगूठी में होकर निकल सकता था, एक वह समय था जब कपड़ा, कागज, तेल, इत्र, खिलौने, रंग; आदि हमारी सभी आवश्यक वस्तुएँ इसी देश में बन जाती थीं। हमें कभी किसी वस्तु के लिए विदेश का मुँह नहीं ताकना पड़ता था, बल्कि अन्य देश हमारा ही मुँह ताकते थे। पर आज तो महान् अन्तर देखा जाता है। यद्यपि विज्ञान की उन्नति से हमारे देश में कलों का प्रचार हो गया है और प्रायः सभी क्षेत्रों में उनका प्रसार बढ़ता जा रहा है, तथापि देश की आर्थिक स्थिति पहली जैसी नहीं हो पाई है। हाँ, उसमें कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

जब तक मशीनों का प्रचार नहीं हुआ था और यहाँ के निवासी घरेलू उद्योग-धन्धों को भूले हुए थे तब तक हमारी प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशी वस्तुओं द्वारा होती थी। देश की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई थी। प्रति वर्ष देश के करोड़ों रुपये विदेशों में चले जाते थे। जब से कलों का प्रचार हुआ तब से भारतवर्ष की आर्थिक दशा में सुधार होना आरम्भ हो गया है। देश का अधिकांश रुपया देश में ही रहने लगा है। कलों द्वारा धीरे-धीरे हमारी सभी आवश्यक वस्तुओं के निर्माण का प्रबन्ध होता जा रहा है। जिस दिन यह हो जायगा, जिस दिन हमारा देश अपनी खपत की वस्तुओं के लिए विदेशों का दरवाजा न खटखटायगा, उस दिन भारत की लक्ष्मी पुनः भारत को लौट आएगी, उस दिन पुनः यह देश धन-धान्य-सम्पन्न हो जायगा।

कलों से भारतवर्ष की जो कुछ आर्थिक उन्नति हुई है वह और भी अधिक होती, यदि यहाँ के मनुष्य स्वदेशी वस्तुओं के प्रेमी होते। इसमें से अधिकांश स्वदेशी वस्तुओं के स्थान पर विदेशी वस्तुओं का खरीदना अधिक पसन्द करते हैं। क्यों? कारण या तो यह होता है कि कोई स्वदेश-निर्मित वस्तु विदेश-निर्मित वस्तु की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होती है, या देखने में कम सुन्दर लगती

है, या घटिया होती है। ऐसे लोग इन तुच्छ बातों का तो ध्यान रखते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि विदेशी वस्तुएँ खरीदकर हम अपना रुपया हम अपनी लक्ष्मी, देश के बाहर भेजते हैं। यदि ऐसे लोग यह सोचें कि देशी वस्तुएँ खरीदने से अपना धन अपने देश में ही रहता है, और इस प्रकार हमारे भाइयों का पेट पलता है तो फिर देश का कल्याण न हो जाय, तो फिर देश की आर्थिक उन्नति और भी अधिक न हो जाय। भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद ही कोई अन्य सभ्य देश ऐसा हो जहाँ के निवासी अपने थोड़ेसे स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वदेश-निर्मित वस्तुओं का निरादर करें। यह देखा जाता है कि एक इङ्गलैण्ड-निवासी इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुएँ खरीदता है और एक जापान-निवासी जापान की बनी हुई वस्तुएँ; इसी मनोवृति के कारण अंग्रेजों और जापानियों ने अपने-अपने देश को समृद्ध बना लिया है। क्या हम लोग इन लोगों के उदाहरण से शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते ? क्या हम लोग इनका अनुकरण नहीं कर सकते ?

भारतवर्ष की समृद्धि में करों से और भी अधिक सहायता पहुँचती, यदि हमारी सरकार आयात और निर्यात पर ऐसा कर लगाती जो हमारे देश के लिए हितकर होता। यदि सरकार स्वदेशी माल को संरक्षण प्रदान करे तो कोई कारण नहीं है कि यहाँ विदेशी माल की खपत हो। प्रायः भारतीय लोगों की मनोवृत्ति यह है कि जो वस्तु सस्ती हो उसे खरीदना चाहिए, चाहे वह कहीं की बनी हो। यदि सरकार स्वदेशी माल को संरक्षण देगी तो विदेशी माल प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकेगा। अर्थात् स्वदेशी की अपेक्षा विदेशी माल जिससे मँहगा पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि स्वदेशी माल की खपत बढ़ जायगी देश का धन देश में ही रहने लगेगा। अतः देश की आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो जायगी।

कलों ने भारतवर्ष की समृद्धि में योग दिया है। वे इस समय भी योग दे रही हैं और भविष्य में भी योग देंगी, इसमें सन्देह नहीं। पर क्या यह समृद्धि सार्वजनिक है ? क्या इस समृद्धि से देश के समस्त निवासियों को लाभ पहुँचा है ? क्या कलों ने धनवान के साथ-साथ दरिद्र को भी सुख पहुँचाया

है ? क्या एक दरिद्र भारतीय की दशा पर भी कल की कृपा-दृष्टि पड़ी है। उत्तर है—नहीं, नहीं, नहीं। कलों ने पूँजीपतियों की दशा को सुधारा है। उन्हीं की आर्थिक उन्नति हुई है। उन्होंने पूँजी की सहायता से बड़े-बड़े कारखाने खोलकर जनता के धन का अपहरण किया है। बेचारे गरीबों को तो कलों ने बड़ी हानि पहुँचाई है। कलों के प्रचार से भारतवर्ष में दरिद्रों और बेकारों की संख्या बहुत बढ़ गई है। पहले गरीब मनुष्य कुछ न कुछ उद्योग-धन्धा करके जीविका उपार्जन करते थे और अपना पेट पालते थे। कोई चरखा चलाकर अपना पेट भरता था, तो कोई कपड़ा बुनकर। कोई तेल-छत्र बनाकर अपने परिवार का खर्च चलाता था, तो कोई खिलौने बनाकर। कोई कागज बनाकर अपनी रोटी की समस्या हल करता था, तो कोई तरह-तरह के रङ्ग बनाकर। कोई गाड़ियों में बोझा ढोकर अपने परिवार का पालन-पोषण करता था, तो कोई गुड़-खांड़ बनाकर। पर आजकल मशीनों के कारण ये सब धन्धे छूट गए हैं। कल मनुष्य की अपेक्षा कई गुना कार्य कर डालती है। अतः कल-निर्मित वस्तुएं हाथ-निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा बहुत सस्ती पड़ती हैं। फिर हाथ की बनी हुई वस्तुओं को कौन खरीदे ? यही कारण है कि गरीब लोगों को अपने घरेलू धंधे छोड़ देने पड़े हैं और वे भूखे मर रहे हैं। यह देखा जाता है कि आजकल सड़कों पर जल छिड़कने के लिये म्यूनिसिपैल्टियाँ मोटर रखती हैं। एक मोटर सारे नगर की सड़कों पर जल छिड़कने के लिए पर्याप्त होती है। पहले जल छिड़कने का कार्य गाड़ियाँ करती थीं और नगर के विस्तार के अनुसार २० से २५ परिवारों तक की जीविका चलती थी। इस प्रकार मोटर-लारियों के अभाव में पहले अनेक इक्के-ताँगे वालों का पेट पलता था। आंटा बिजली की चक्की के अभाव में पहले अनेक विधवाओं अथवा गरीब स्त्रियों को रोटी मिलती थी। सारांश यह है कि दरिद्र बनाने अथवा बेकारी के गर्त में ढकेलने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ मशीनों पर है। हम यह कह सकते हैं कि कलों ने गरीबों की जेब से रुपये निकाल कर अमीरों की जेबों में भर दिये हैं और इस प्रकार गरीबों का जीवन कंटकाकीर्ण बना दिया। कुछ लोग कह सकते हैं कि मशीनों ने अनेक भूखों को नौकरी देकर उनको सुखी बनाया है।

ठीक है पर उन लोगों की अपेक्षा जिन्होंने मशीनों से जीविका पाई है उन लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनकी जीविका मशीनों से छिन गई है।

सारांश यह है कि मशीनों के प्रचार से भारतवर्ष की समृद्धि तो हुई है, कलों ने भारतवर्ष की समृद्धि में योग तो दिया है और देश का बहुत सा रुपया बाहर जाने से रोक लिया है, पर इस समृद्धि का सम्बन्ध पूंजीपतियों से है, सर्वसाधारण से नहीं। कलों ने पूंजीपतियों की तिजोरियाँ भरी हैं और गरीबों से रोटी के टुकड़े छीने हैं। अतः अच्छा हो यदि वृहत् उद्योगों के लिये ही मशीनों की शरण ली जाय और छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे हाथों से किये जायें।

आदर्श गृहणी का स्वरूप

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—गृहस्थ-जीवन में गृहिणी का स्थान
(२) आदर्श गृहणी द्वारा समाज का हित
(३) आदर्श गृहणी की आवश्यकताएं—
    (क) शिक्षा
    (ख) गृ स्थी के काम-काज करने की कुशलता
    (ग) स्वच्छता-प्रियता
    (घ) घरेलू चिकत्सा का ज्ञान
    (ङ) मनोरंजनार्थ संगीतादि कलाओं का ज्ञान
    (च) पतिव्रत धर्म का पालन
    (छ) चरित्र की उज्ज्वलता
(४) उपसंहार : हमारे देश की गृहिणियों का स्वरूप

गार्हस्थ्य-जीवन एक गाड़ी है जिसके पुरुष और स्त्री दो पहिये हैं। इस गाड़ी के सुचारु संचालनार्थ पति एवं पत्नी की उत्कृष्टता वांछनीय है। गृहस्थी में सुख और शान्ति का साम्राज्य तभी स्थापित होगा जब गृहपति और गृहणी दोनों ही आदर्श हों। इन दोनों में भी आदर्श गृहिणी का स्थान अधिक महत्व-पूर्ण है। गृहस्थ-जीवन का अधिकांश भार गृहिणी के ही कंधों पर है। वह घर की अधिष्ठात्री देवी है। यदि आदर्श गृहिणी जीवन को स्वर्गीय बना सकती है, तो कलुषित गृहिणी उसे नारकीय रूप दे सकती है। यदि आदर्श गृहिणी जीवन

में सरसता का संचार कर सकती है, तो अधम गृहिणी उसमें कटुता का बीज-वपन कर सकती है। यदि आदर्श गृहिणी जीवन का पीयूष है, तो निकृष्ट गृहिणी जीवन का गरल।

आदर्श गृहिणी से पति का जीवन तो मधुर बनता ही है समाज का भी कम कल्याण नहीं होता। वह अपनी संतान को सुशील तथा सुयोग्य बनाती है। वह अपनी संतान में महानता का मंत्र फूँकती है। वह अपनी संतान को दिव्य गुणों से अलंकार करती है। उसी की संतान देश और समाज का नेतृत्व कर सकती है इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। हिन्दू-जाति के प्राण क्षत्रपति महाराज शिवाजी का आविर्भाव करने वाली कौन थी ? एक आदर्श गृहिणी जिसका नाम था जीजाबाई। जीजाबाई ने ही शिवाजी को शिवाजी बनाया। उन्होंने ही शिवाजी को हिन्दू समाज के उद्धार में संलग्न किया। आजकल राष्ट्र-निर्माता महात्मा गांधी को ही देखिए। उन्हें किसने जन्म दिया है ? एक आदर्श गृहिणी पुतलीबाई ने जो साधु स्वभाव की थीं और धर्म में बहुत निष्ठा रखती थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज-कल्याण में आदर्श गृहिणी का महत्व बहुत अधिक है।

अब प्रश्न उठता है कि आदर्श गृहिणी में कौन-कौन से गुण होने चाहिएँ, उसकी क्या-क्या आवश्यकतायें हैं ? नारी को आदर्श गृहिणी के सुनाम से विभूषित होने के लिए सर्व प्रथम शिक्षा की आवश्यकता है। स्त्री माता-रूप में हमारी गुरु और पत्नी-रूप में हमारी परामर्श-दात्री है। इसलिए उसका शिक्षित होना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा के बिना मस्तिष्क का विकास नहीं हो सकता और विना मस्तिष्क के विकास के गुरु-कार्य अथवा परामर्श कार्य में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। पत्नी के अशिक्षित होने पर पति की शक्ति आधी रह जाती है और गृहस्थी का कार्य भी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। सुशिक्षा से स्त्री की कूप-मण्डूकता जाती रहती है। वह किसी बात की वास्तविकता अथवा भलाई-बुराई पर ठीक-ठीक विचार कर सकती है। शिक्षा के फलस्वरूप अन्ध-विश्वासों से उसका पल्ला छूट जाता है।

पर क्या वर्त्तमान शिक्षा आदर्श गृहिणी के लिए उपयुक्त है ? उत्तर है, नहीं। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि लड़के तथा लड़कियों, स्त्रियों तथा

पुरुषों को समान विषयों, का अध्ययन कराया जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों की शिक्षा-पद्धति पृथक्-पृथक् हो। लड़कियों को इस प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाय जो उनके कार्यों में सहायक हो सके, जो उन्हें आगामी जीवन के लिए तैयार कर सके। यदि ऐसा होगा तो सचमुच हमारे शिक्षालय आदर्श गृहिणी तैयार करने के साँचे बन जायँगे।

पर क्या आदर्श गृहिणी के लिए उच्च शिक्षा की भी आवश्यकता है? उत्तर है, नहीं। किन्तु यदि कोई गृहिणी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहे तो कोई हानि नहीं है। उच्च शिक्षा गृहिणी की आदर्शता में किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकती। कतिपय लोगों की धारणा है कि उच्च शिक्षा प्राप्त नारी कदापि सफल गृहिणी नहीं बन सकती। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। भारतीय सभ्यता का प्राचीन इतिहास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। हमारे यहाँ मैत्रेयी आदि अनेक उच्च शिक्षित देवियाँ आदर्श गृहणियाँ हुई हैं। शिक्षा प्रकाश है। शिक्षा आत्म-संस्कार की कुञ्जी है। अतः यह असम्भव है कि वह किसी प्रकार गृहिणी के कार्य-क्षेत्र में हानिकारक सिद्ध हो। हाँ, वर्तमान उच्च-शिक्षा अवश्य गृहणियों के लिए त्याज्य है। इसने हमारे स्त्री-समाज को बहुत हानि पहुँचाई है। कॉलिजों से बाहर निकलने वाली नवयुवतियाँ पूर्णतया गार्हस्थ्य क्षेत्र के लिए अनुपयुक्त होती है। कॉलिजों में गृहस्थी के संचालन के किसी भी विषय की शिक्षा नहीं प्रदान की जाती; न उन्हें पाकशास्त्र का अध्ययन कराया जाता है, न उन्हें सुई-शिल्प की शिक्षा दी जाती है, न उन्हें शिशु-मनोविज्ञान का ज्ञान कराया जाता है, न उन्हें स्वास्थ्य-विज्ञान का अध्ययन कराया जाता है, न उन्हें घरेलू चिकित्सा सिखाई जाती है और न उन्हें मातृत्व-शिक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त वे फैशन की गुलाम और दिखावटीपन की पुजारिन होती हैं। वे सदैव नुमायशी पुतली बनी रहना चाहती हैं, गृह-कार्य में संलग्न गृह-देवी नहीं। वे सदैव अतीन्द्रिय जगत की नायिका बनी रहना चाहती हैं, इस लोक की गृहिणी नहीं। वे सदैव शृङ्गार के कल्पना-क्षेत्र में विचरण करना चाहती हैं, जीवन की विषमताओं से भरे हुए गृहस्थाश्रम में नहीं। अपने हाथ से काम-काज करना तो वे अपनी शान के खिलाफ समझती हैं।

आदर्श गृहिणी में गृहस्थी के काम-काज करने की कुशलता अवश्य होनी चाहिए। उसे भोजन बनाना, सीना-पिरोना, बच्चों का लालन-पालन, गृह-व्यवस्था आदि कार्यों में दक्ष होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि घर के काम-काज नौकर-चाकर कर सकते हैं, एक आदर्श गृहिणी के लिए उनका ज्ञान अपेक्षित नहीं है। यह विचार ठीक नहीं है। प्रत्येक स्त्री, अथवा पुरुष को अपना कार्य अपने हाथों से करना चाहिए। जो कार्य अपने हाथों से किया जाता है वह अच्छा होता है। गृहस्थी के काम-काज को नौकर या नौकरानी कभी सुचारु रूप से नहीं कर सकती।

आदर्श गृहिणी के लिये स्वच्छता-प्रियता की भी आवश्यकता है। उसे गृह साफ-सुथरा रखना चाहिए, कहीं भी गन्दगी का नाम न हो। वह स्वयं अपने तथा बाल-बच्चों के शरीर को निर्मल रक्खे। नित्य स्वयं स्नान करे और बालकों को कराए। अपने बालकों के वस्त्रों की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दे। सफाई और स्वास्थ्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वच्छता की उपेक्षा करके कोई भी मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता। वह व्यक्ति क्या कभी स्वस्थ रह सकता है जो सदैव मैले-कुचैले वस्त्र धारण करता हो अथवा गली और दुर्गन्ध पूर्ण नालियों के बीच रहता हो, कदापि नहीं। अतः यदि गृहिणी स्वच्छता का ध्यान न रक्खेगी तो वह गृह को रोगों का निवास-स्थान बनाएगी।

आदर्श गृहिणी के लिए स्वास्थ्य-विज्ञान, घरेलू-चिकित्सा और रुग्ण-परिचर्य्या का भी ज्ञान वांछनीय है। इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध है और प्रत्येक घर में इन तीनों की आवश्यकता होती है। स्वास्थ्य-विज्ञान से स्वास्थ्य की रक्षा होती है और मनुष्य रोगों के चंगुल में नहीं फँसने पाता। घरेलू चिकित्सा का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। जहाँ रोगी होंगे वहाँ रुग्ण-परिचर्य्या की आवश्यकता होगी ही। प्रत्येक घर में बालक छोटे-मोटे रोगों से पीड़ित हुआ करते हैं। कभी किसी बालक को खाँसी होती है, तो कभी किसी को दस्त। कभी किसी को ज्वर आ जाता है, तो कभी किसी की आँखें दुखने लगती हैं। दाँत निकलते समय बच्चे की तबियत बहुत खराब रहती है। बालक स्वभावतः नटखट होते हैं। वे आपस में एक-दूसरे को चोट दे देते हैं। इन सब बातों के लिए यदि डॉक्टर बुलाया जाय तो बहुत रुपया व्यय हो जायगा। यदि गृहिणी

को घरेलू चिकित्सा का ज्ञान हो तो फिर बालकों की चिकित्सा में व्यर्थ धन क्यों गँवाना पड़े ?

मानव-जीवन में मनोरंजन की कम आवश्यकता नहीं। इससे मानसिक क्षुधा तृप्त होती है। जब हम दिन भर के परिश्रम से उकता जाते हैं तब हमारा मन विनोद चाहता है। उस समय कोई शतरंज से मन बहलाता है तो कोई ताशों से। कोई बैडमिंटन खेलता है तो कोई टैनिस। कोई सिनेमा-हाल की ओर पैर बढ़ाता है तो कोई वाद्य-यन्त्र पर उँगलियाँ चलाता है। ऐसे समय यदि गृहिणी मधुर स्वर से राग अलाप सकती हो, सुरीले कण्ठ से गा सकती हो, तो आनन्द-द्विगुणित हो जाता है। वाद्य-यन्त्रों से तान छेड़ने, मधुर ध्वनि निकालने का ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक है। उसे संगीत-कला का सम्यक् ज्ञान होना चाहिये। यदि वह चित्र-कला और नृत्यकला भी जानती हो तो सोने में सुगन्ध है।

पतिव्रत धर्म का पालन तो आदर्श-गृहिणी के लिए प्राण-प्रिय होना चाहिये। उसके लिए पति ही एकमात्र देवता, पति ही एकमात्र धन, पति ही एकमात्र सम्बन्धी है। वह पति के सुख में अपना सुख, पति के दुःख में अपना दुःख,पति के उत्कर्ष में अपना उत्कर्ष, पति के अपकर्ष में अपना अपकर्ष, पति के सम्मान में अपना सम्मान और पति के अपमान में अपना अपमान समझे। वह तन, मन और धन से पति पर न्योछावर हो जाय। वह पति की छाया-रूप होकर रहे। उसके जितने भी कार्य हों, सभी पति के आनन्द, पति की संतुष्टि के लिए हों।

आदर्श गृहिणी का चरित्र उज्ज्वल एवं मनोमोहक हो। उसका स्वभाव सरल और विनम्र हो। उसमें सहनशीलता का गुण विद्यमान हो। वह मितव्ययी भी हो, फैशन का भूत उस पर सवार न हो। वह मिष्टभाषिणी एवं हास्यमुखी हो।

संक्षेप में यही आदर्श गृहिणी का स्वरूप है। क्या हमारे देश की आधुनिक गृहिणियाँ आदर्श कही जा सकती हैं ? नहीं। प्राचीन-काल में अवश्य हमारे यहाँ की स्त्रियाँ आदर्श गृहिणियाँ होती थीं और उन्हें गृह-लक्ष्मियों के भव्य

नाम से विभूषित किया जाता था। खेद की बात है कि आजकल हमारी गृहणियाँ अशिक्षा के अन्धकूप में पड़ी हुई हैं। उनमें विविध प्रकार के दोष एवं कुरीतियाँ पाई जाती हैं। वे अपने पतियों से दिन-रात कलह किया करती हैं। वे स्वच्छता से कोसों दूर हैं। उनमें गृहस्थी के काम-काज करने की क्षमता नहीं है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम पद-दलित नारी-जाति का क्षीण क्रन्दन सुनें और उसे ऊँचा उठाकर आदर का स्थान प्रदान करें, जिससे हमारे यहाँ पुनः सावित्री, सीता, अनसूया सरीखी आदर्श गृहिणियाँ उत्पन्न हों और हमारी जाति तथा देश की उन्नति हो।

विज्ञान के चमत्कार

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—अतीत कालीन बातें
(२) चमत्कार—
  (क) यात्रा-सम्बन्धी
  (ख) समाचार-सम्बन्धी
  (ग) आमोद-प्रमोद-सम्बन्धी
  (घ) स्वास्थ्य-सम्बन्धी
  (ङ) जनसंहार-सम्बन्धी
  (च) दैनिक आवश्यकता-सम्बन्धी
(३) उपसंहार—विज्ञान का भविष्य

महाराज रामचन्द्र रावण का वध करके पुष्पक विमान में बैठकर आकाश-मार्ग से अयोध्या लौटे थे। संजय ने राजभवन में बैठे ही महाभारत के समर की समस्त घटनाएँ देखी थीं, सुनी थीं और महाराज धृतराष्ट्र को सुनाई थीं। उड़न खटोले में बैठकर राजकुमार आकाश में उड़ गया था। अतीत काल की इन आश्चर्यजनक बातों में मानव को विश्वास न था और वह इन्हें कपोल-कल्पित कहता था। पर अब विज्ञान ने इनकी सत्यता प्रमाणित कर दी है। आज तो विज्ञान एक से एक नवीन चमत्कार प्रस्तुत करके विश्व को जादू की पिटारी बनाता जा रहा है। उसने संसार में

कायापलट कर दी है। जिधर देखिए उधर ही उसकी करामात दिखाई देती है।

देखिए विज्ञान की कृपा से मानव को यात्रा के कैसे-कैसे सुलभ साधन उपलब्ध हो गए हैं। रेल, मोटर और जलयान की बात जाने दीजिए। वायुयान और हेलीकोप्टर क्षण भर में कहीं से कहीं पहुँचा देते हैं। न सड़क की आवश्यकता है और न पुल की। ये नभ के वक्ष:स्थल पर अहर्निशि क्रीड़ा करते हैं। राकेट अति तीव्रगामी होता है। इसमें बैठकर चन्द्रलोक तक पहुँचने का प्रयास किया जा रहा है। कछुआ-गाड़ी यात्रा का एक विचित्र साधन है। यह कछुआ की भाँति स्थल और जल दोनों पर समान रूप से चल सकती है। स्थल-यात्रा में अब तक यह कठिनाई थी कि पुल के अभाव में यात्री जलाशय नहीं पार कर सकता था। कछुआ-गाड़ी ने इस कठिनाई का निराकरण कर दिया है। बलिहारी है विज्ञान की जिसने स्थल और जल में ही नहीं, आकाश में भी मार्ग निकालकर इस लोक का अन्य लोकों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का बीड़ा उठाया है।

समाचार भेजने के लिए भी विज्ञान ने अद्भुत चमत्कारों की सृष्टि की है। तार और टेलीफोन की बात जाने दीजिए। बेतार का तार क्षण भर में सहस्रों मील दूर तक संदेश पहुँचा देता है। संदेश वहन करने के लिए किसी तार अथवा अन्य साकार वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। कैसे आश्चर्य की बात है यह!

मानव के आमोद-प्रमोद के लिए भी विज्ञान ने एक से एक उत्तम साधन जुटाए हैं। ग्रामोफोन से नाना प्रकार के गाने विविध स्वर एवं लय में सुनकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। सिनेमा कैसा चकित करने वाला चमत्कार है। चित्रपट पर नाचते-गाते, उछलते-कूदते तथा बात-चीत करते हुए चित्रों को देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। भागते हुए घोड़े की टाप, चलती हुई मोटर की ध्वनि और पशु-पक्षियों की आवाज सुनकर हम दंग रह जाते हैं। चित्रों में वाणी एवं ध्वनि का संचार कैसे हो जाता है? चित्रपट पर ऊषा की लालिमा, वनस्थली की हरीतिमा, आकाश की नीलिमा, मेघों की कालिमा एवं पुष्पों की सुषमा प्राकृतिक रूप

में देखकर अचम्भा होता है। चित्रों में रंगों का समावेश कैसे हो जाता है ? 'रेडियो द्वारा घर बैठे ही संसार के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ गायक का गायन तथा उत्तम से उत्तम वाद्ययंत्र का वादन सुना जा सकता है। अब टेलीविजन के आविष्कार ने गायक का चित्र और नर्तकी का नृत्य देखना भी सम्भव कर दिया है। इस प्रकार दृश्य-प्रसार द्वारा टेलीविंजन ने रेडियो की कमी पूरी कर दी है।'अब क्या आवश्यकता है सिनेमागृह में पदार्पण करने की ? घर बैठे ही टेलीविजन सिनेमा दिखा देगा। वलिहारी है विज्ञान की। केमरा से लिए गए सुन्दर दृश्यों के चित्रों द्वारा हमारा मनोरंजन होता है। वह पलक मारते-मारते चित्र खींच लेता है। उड़ती हुई चिड़िया और बन्दूक से निकली हुई गोली के भी चित्र खींचने में केमरा को सफलता मिली है। पहले केमरा से लिए गए चित्रों में वस्तु का वास्तविक रूप तो आ जाता था, किन्तु रंग नहीं आता था। अब इस प्रकार की युक्ति निकाली गई है कि वास्तविक रंग भी आ जाता है।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक चमत्कारों में ऐक्सरे का महत्वपूर्ण स्थान है। यह अद्भुत आविष्कार है। इसने चिकित्सा-संसार में हलचल उपस्थित कर दी है। ऐक्स-रे प्रत्येक ठोस या द्रव के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। डाक्टर लोग इसी की सहायता से यक्ष्मा एवं हृदय-रोग की जाँच करते हैं। हड्डी टूटने की दशा का भली-भाँति परिचय भी इसी के द्वारा होता है। कभी-कभी खेल में बालक छोटा खिलौना अथवा अन्य वस्तु निगल जाता है और उसकी जान पर आ बनती है। उस समय ऐक्स-रे ही उसकी प्राण-रक्षा करती है। आपकी तिजोरी में कहाँ क्या आभूषण, रुपया-पैसा आदि रखे हुए हैं, इसका ज्ञान बिना तिजोरी खोले ही ऐक्स-रे करा देती है। कैसे आश्चर्य की बात है यह ! कैसा जादू का खेल है यह !

जन-संहार के नए-नए साधन जुटाकर विज्ञान ने युद्धों में भी अपनी करामात दिखाई है। बन्दूक, पिस्तौल, रिवोल्वर और तोप की बात जाने दीजिए। आज तो आकाश, में चिनगारियों की भाँति छा जाने वाली गोलियों की वर्षा करने वाली मशीनगनें और रणभूमि को रक्त-रंजित करने वाले टैंक युद्ध-क्षेत्र की शोभा बढ़ाते हैं। सबसे भयानक हैं अणु और हाइड्रोजन बम। इन प्रलय-

कारी अस्त्रों द्वारा पल भर में सैकड़ों मील के क्षेत्रफल में रहने वाले जीवधारियों का स्वाहा हो जाता है। इन्होंने संसार में त्राहि-त्राहि मचा दी है और दी है मानवता को विनाश की चुनौती।

दैनिक आवश्यकता-सम्बन्धी अनेक चमत्कार विज्ञान ने प्रस्तुत किए हैं। बिजली की ही एक से एक अनोखी करामातें हैं। आज प्रकाश के लिए, खाना पकाने के लिए और चाय तैयार करने के लिए आपको अग्नि अथवा दियासलाई की आवश्यकता नहीं है। आज पंखा झलने के लिए आपको नौकर की आवश्यकता नहीं है। आज नौकर को बुलाने के लिए आपको वाणी के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। केवल बिजली का बटन दबा दीजिए। आपका सब काम हो जायगा। न तेल की आवश्यकता होगी, न बत्ती की, न दीपक की, न कोयले की, न लकड़ी की। घर का कोना-कोना शुभ्र प्रकाश से जगमगा उठेगा। बिजली का चूल्हा खाना पका देगा। बिजली की अँगीठी चाय तैयार कर देगी। बिजली का पंखा हवा कर देगा। बिजली की घंटी नौकर को बुला देगी। अब आपको शीत से रक्षा करने के लिए रुई की रजाई बनवाना आवश्यक नहीं। ओढ़ने के लिए बिजली की ऐसी चादरें तैयार हुई हैं जो आपको आवश्यकतानुसार गर्मी प्रदान करेंगी। धन्य है बिजली जिसने हमारी परिचर्या पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है।

मुद्रण-यंत्र जरा सी देर में एक पुस्तक की सहस्रों प्रतियाँ छाप देता है। इसके अभाव में पहले किसी पुस्तक की दूसरी प्रतिलिपि करने में ही महीनों लग जाते थे। मुद्रण-यंत्र की कृपा से अब ५०-५० सहस्रों प्रतियाँ एक घण्टे में छप जाती हैं। केवल अक्षरों को जोड़कर रखने के अतिरिक्त मनुष्य को अन्य श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। एक ओर कोरा कागज अपने आप चलता जाता है और दूसरी ओर छपे हुए कागजों की गड्डी अपने आप बनती जाती है। मुद्रण-यंत्र ने ज्ञान-भण्डार का द्वार सर्वसाधारण के लिए खोल दिया है। आज पहले जिस पुस्तक की शक्ल देखने को भी मनुष्य तरसते थे वह आज जन-जन के लिए सुलभ हो गई है। बधाई है विज्ञान को।

घड़ी भी कम आवश्यक नहीं है। उसने मानव की कलाई पर, उसकी जेब में तथा उसके कमरे में स्थान प्राप्त किया है। क्षण भर भी मनुष्य उससे

विलग नहीं होना चाहता। विज्ञान की इस देन की सहायता से वह प्रत्येक कार्य उचित समय पर सम्पन्न कर सकता है और समय की रक्षा कर सकता है। यहीं नहीं, यदि आपको किसी कार्य-वश रात्रि के ३ बजे जगना है तो कौन जगावेगा ? यह कार्य तो घड़ी ही सरलतापूर्वक अलार्म द्वारा कर सकेगी, और कोई नहीं। कितने काम की वस्तु है यह !

इस प्रकार के असंख्य चमत्कार हैं। कहाँ तक सबका उल्लेख किया जाय ? कहाँ तक सबका दिग्दर्शन कराया जाय ? पर अभी विज्ञान उनसे संतुष्ट नहीं है। वह नित्य नए चमत्कार आविष्कृत करता जा रहा है, जिन्हें देखकर मानव को कौतूहल होता है। आज विज्ञान कृत्रिम मेघों से जल-वृष्टि करा सकता है। वह नर को नारी एवं नारी को नर में परिणत करने, कृत्रिम मनुष्य बनाकर उसमें जीवन संचार करने और प्राणी को अदृश्य करने के प्रयत्नों में संलग्न है। न मालूम वह कहाँ तक पहुँचेगा। किसी दिन विधाता का स्थान न ग्रहण करले।

———

नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—नागरिकों के अधिकार की आवश्यकता
अधिकार और कर्त्तव्य का साथ

(२) अधिकार

अ—सामान्य

(क) शिक्षा-प्राप्ति
(ख) आर्थिक-सुविधा
(ग) रक्षा
(घ) न्याय
(ङ) विचार-स्वतन्त्रता
(च) लेखन एवं भाषण की स्वतन्त्रता

आ—राजनैतिक

(क) मताधिकार
(ख) निर्वाचित होने का अधिकार
(ग) पदाधिकार

(३) कर्त्तव्य
(क) राज्य-कर-प्रदान
(ख) कानून-पालन
(ग) शासन में सहयोग-प्रदान
(घ) देश के रक्षार्थ युद्ध में सहायता
(४) उपसंहार—सारांश

संगठित शासन के अन्दर रहने वाले नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त हुआ करते हैं। इन अधिकारों का लक्ष्य जहाँ व्यक्ति-विशेष के जीवन को सुखी बनाना होता है वहाँ समाज का उत्थान भी होता है। ये जन्म-सिद्ध होते हैं और प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्राप्त होते हैं। हाँ, पागल, दिवालिया अथवा किसी घोर अपराध से दंडित व्यक्ति इनसे वंचित रहता है। इन अधिकारों के साथ कतिपय कर्त्तव्य भी लगे हुए हैं। वास्तव में अधिकारों और कर्त्तव्यों का अटूट सम्बन्ध है। जहाँ अधिकार होंगे वहाँ कर्त्तव्य अवश्य होंगे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

प्रत्येक नागरिक का शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह प्रारम्भिक, माध्यमिक, उच्च, शिल्प तथा व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा की समुचित व्यवस्था करे। स्त्रियों और पुरुषों को शिक्षा-प्राप्ति की समान सुविधा प्रदान की जाय। प्रारम्भिक शिक्षा तो सबको अनिवार्य रूप से निःशुल्क दी जाय। शिक्षा प्रकाश है, जाग्रति है, उन्नति है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य न तो अपनी दशा सुधार सकता है और न समाज की। अतः कोई भी इससे वंचित नहीं रहना चाहिए।

जीविका-हीन व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। जो व्यक्ति चार पैसे नहीं कमा सकता, जो व्यक्ति अपना और अपने परिवार का पेट नहीं भर सकता, जो व्यक्ति बेकारी के रोग से आक्रान्त है, वह समाज के लिए घातक है। अतः यह आवश्यक है कि सरकार की ओर से आर्थिक सुविधा प्रदान की जाय। सरकार ऐसा प्रबन्ध करे कि कोई भी व्यक्ति भूखा न मरे। सभी आवश्यक भोजन और वस्त्र प्राप्त कर सकें। सभी साफ-सुथरे मकानों में रह सकें और अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण तथा उनको शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर सकें। इसके लिए

सरकार को देश के उद्योग-धन्धों का पुनरुत्थान करना चाहिए बेकारों को कार्य देना चाहिए और इस प्रकार के कानून बनाने चाहिए जिनसे पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का आर्थिक शोषण बन्द हो।

नागरिकों को प्राण और सम्पत्ति की रक्षा का भी अधिकार है। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह जनता की रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करे। कोई किसी को सताये नहीं, कोई किसी का धन अपहरण न करे। लुटेरों को सजा दी जाय। मार-पीट करने वाले तथा हत्यारों को दण्डित किया जाय।

न्याय-व्यवहार पर भी प्रत्येक नागरिक का अधिकार है। सरकार को चाहिए कि न तो वह स्वयं किसी के साथ अन्याय करे और न किसी को दूसरे के साथ अन्याय-पूर्ण व्यवहार करने दे। प्रत्येक व्यक्ति कानून के समक्ष समान समझा जाय और न्यायालयों में निष्पक्षता का साम्राज्य हो। इसके अतिरिक्त यह भी वांछनीय है कि न्याय सस्ता और शीघ्र हो, अन्यथा निर्धन व्यक्ति उसके लाभ से वंचित रह जायेंगे।

मस्तिष्क के विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वतन्त्रता पूर्वक सोचे-विचारे। इससे व्यक्ति-विशेष को ही लाभ न होगा, वरन् समाज का भी भला होगा। मनुष्य के मस्तिष्क में नये-नये भावों और विचारों का उदय होना समाज के लिए हितकारक होता है। जिस मनुष्य को सोचने-विचारने का अवसर नहीं दिया जाता उसकी विचार-शक्ति शनैः-शनैः क्षीण होती जाती है। अतः व्यक्ति और समाज दोनों के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार हो।

विचार-स्वातन्त्र्य के साथ-साथ लेखन एवं भाषण की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए। इनके बिना विचार-स्वातन्त्र्य का कुछ भी मूल्य नहीं। सामाजिक जीवन में विचारों का आदान-प्रदान समाज के उत्थान के लिए लाभप्रद होता है। पारस्परिक वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता से मनुष्य तथ्य तक, किसी बात की जड़ तक सरलता से पहुँच जाता है। किन्तु लेखन और भाषण की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किसी की अकारण ही निन्दा करके नहीं करना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह कभी अकेला नहीं रहना चाहता। उसे कुछ साथी चाहिए जिनके साथ वह मिल-जुल कर रह सके, जिनके साथ

वह अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सके। पारस्परिक मेल-मिलाप से जीवन में सरसता का संचार होता है। अतः मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता मिलना प्रत्येक नागरिक के लिए वांछनीय है। कभी-कभी जन-समुदाय के सम्मुख अपने विचारों एवं भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये उन्हें एकत्रित करना आवश्यक होता है। इसके लिए नागरिकों को सभा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपयोग किसी षड्यन्त्र के लिए न किया जाय।

जीवन के दो पक्ष हैं पारिवारिक और सामाजिक। संसार में रहता हुआ मनुष्य इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं कर सकता। सामाजिक पक्ष यह चाहता है कि कोई व्यक्ति अपनी जीवनधारा को इस प्रकार प्रवाहित न करे कि समाज के अन्य व्यक्तियों का उससे अहित हो। हमें सदैव दूसरों का ध्यान रखना चाहिए। समाज की स्थिति और रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है। किन्तु पारिवारिक पक्ष में इस प्रकार का कोई नियन्त्रण अपेक्षित नहीं। वहाँ तो प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जो जिसको चाहे अपना जीवन-साथी चुने, जो जिसको चाहे अपनी जीवन-संगिनी बनाये। जो जैसी उचित समझे अपने परिवार की व्यवस्था करे, अपने बालकों को चाहे जिस स्कूल में भेजे, भोजन-वस्त्रादि का चाहे जैसा प्रबन्ध करे, घर में जिस प्रकार चाहे मनोरंजन करे। सरकार या अन्य किसी व्यक्ति को इनमें हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता ?

प्रत्येक नागरिक को धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वाधीनता होनी चाहिए। वह अपनी रुचि के अनुसार जिस धर्म का अवलम्बन लेना चाहे ले, जिस देवी-देवता की आराधना करना चाहे करे, जिस धार्मिक उत्सव में सम्मिलित होना चाहे हो। वह जिस संस्कृति का अनुसरण करना चाहे करे, वह जिस सभ्यता को अपनाना चाहे अपनावे। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि वह अन्य धर्मानुयायियों के साथ अनुचित व्यवहार न करे, ऐसा कोई कार्य न करे जिससे उनकी धार्मिक भावना को ठेस लगे। यदि वह ऐसा करे तो उसका दमन करना सरकार का कर्त्तव्य है।

यह तो हुई सामान्य अधिकारों की बात। अब राजनैतिक अधिकारों की ओर आइए। प्रत्येक नागरिक को मताधिकार हो। उसे अधिकार हो कि वह क्या म्यूनिसिपल बोर्ड, क्या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, क्या छोटी कौंसिल—क्या बड़ी कौंसिल, क्या प्रांतीय कौंसिल, क्या केन्द्रीय कौंसिल, सभी के चुनाव में अपना मत दे सके। प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को यह अधिकार होना चाहिए। यह न्याय-संगत ही है कि शासकों के निर्वाचन में शासितों का हाथ रहे। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि इस अधिकार का उपयोग पक्षपात अथवा धन-मान के प्रलोभन-वश न किया जाय, वरन् सार्वजनिक हित का ध्यान रखकर किया जाय।

जिसे मताधिकार हो उसे स्वयं भी निर्वाचित होने का अधिकार होना चाहिए। जिसे दूसरों को चुनने का अधिकार हो उसे स्वयं भी चुनाव के लिये खड़े होने का अधिकार मिलना चाहिए। जो दूसरों से शासित हो उसे स्वयं भी शासन करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। यह उचित नहीं है कि इस अधिकार का उपयोग कतिपय नागरिक ही करें, शेष इससे वंचित रक्खे जायें।

नागरिकों को पदाधिकार भी प्राप्त हो। पद (नौकरी)—प्रदान की कसौटी योग्यता रक्खी जाय। इसमें जाति-पाँति, ऊँच-नीच, वर्ण-व्यवस्था, धर्म-सम्प्रदाय आदि का विचार न किया जाय और सदैव निष्पक्षता का व्यवहार किया जाय; तभी शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकती है और समाज तथा देश का कल्याण हो सकता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जहाँ अधिकार होंगे वहाँ कर्त्तव्य अवश्य होंगे। अतः जब नागरिक उपर्युक्त अधिकारों का उपभोग करेंगे तब उन्हें कुछ कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ेगा। उन्हें राज्य-कर देना होगा, अन्यथा शासन-व्यवस्था कैसे हो सकेगी? कर्मचारियों का वेतन कहाँ से आएगा? राज्य-कर प्रत्येक नागरिक से उसकी आर्थिक स्थिति के अनुसार लिया जाय। इसके अतिरिक्त जहाँ तक हो सके वह अप्रत्यक्ष रूप से (Indirectly) प्राप्त किया जाय जिससे देने वाले का दिल न दुखे।

कानूनों की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। वह इस बात का पद-पद पर ध्यान रक्खे कि उसके किसी भी कार्य द्वारा सरकार के बनाए हुए कानूनों का उलंघन न हो। सामाजिक हित की दृष्टि से कानून-पालन अत्यन्त आवश्यक है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानूनों का निर्माण होता है।

कोई भी शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती, यदि उसे जनता का, नागरिकों का सहयोग प्राप्त न हो। यद्यपि रक्षा और शांति स्थापित करना सरकारी पुलिस और मजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि जनता का साहाय्य इन कार्यों को भली-भाँति सम्पादित करने के लिए आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह चोरों, डाकुओं तथा अन्य अपराधियों का पता लगाने और उन्हें दण्ड देने में सरकार की सहायता करे। इसी प्रकार जो लोग पारस्परिक लड़ाई-झगड़ों से जनता की शांति भंग करते हैं उन्हें सजा दिलवाए।

यदि किसी समय स्वदेश पर बाह्य-आक्रमण हो तो उस समय प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह देश के रक्षार्थ अपनी सम्पत्ति और शरीर से सरकार को सहायता प्रदान करे, वह देश की आबरू बचाने के लिए अपना सर्वस्व दे डाले। जिस देश की धूल में लोट-लोटकर हम बड़े हुए हैं, जिस देश की जल-वायु तथा अन्न से हमारे शरीर का विकास हुआ है, क्या उसकी संरक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगाना हमारा कर्त्तव्य नहीं है ?

सारांश यह है कि व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित की दृष्टि से नागरिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था वांछनीय है। यदि ऐसा होगा तो समाज में शान्ति तथा साम्य स्थापित रहेगा, सबको उन्नति के समान अवसर मिलेंगे, सबका जीवन सुखी रहेगा और देश उन्नति के मार्ग में अग्रसर होगा।

विश्व-शांति के उपाय

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—वर्त्तमान काल में विश्व में सर्वत्र अशांति
(२) विश्व-शांति के उपाय—
 (क) आर्थिक शोषण का अन्त

(ख) सामाजिक तथा धार्मिक भेद-भावों का निराकरण
(ग) आध्यात्मिकता का अवलम्बन
(घ) विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार
(ङ) संयुक्तराष्ट्र-संघ की योजना
(३) उपसंहार—सारांश

आज विश्व में सर्वत्र अशांति के बादल उमड़ रहे हैं। आज विश्व में चारों ओर हिंसा-दानवी का तांडव-नृत्य हो रहा है। आज नर-संहार के नित्य नवीन साधन निर्मित हो रहे हैं। आज अणु-बम (Atom bomb) सरीखे प्रलयंकारी युद्धास्त्र आविष्कृत हो चुके हैं और इससे भी अधिक विध्वंसक साधन खोजे जा रहे हैं। एक-दूसरे के रक्त के प्यासे संसार के सामने आज स्वार्थ-साधन का समुद्र बेतरह तरंगित हो रहा है। आज दीन-दुखियों को अन्याय एवं अत्याचार के कोल्हू में कुचला जा रहा है। घोर परिश्रम करने वालों को भी भरपेट भोजन नहीं मिल रहा है। एक ओर यह दशा है तो दूसरी ओर गरीबों का खून चूसने वाले, उनके पसीने की कमाई पर हाथ साफ करने वाले लक्ष्मी के लाल विलास-सागर में निमग्न हो रहे हैं। विज्ञान के दिन-दूने और रात चौगुने उत्थान ने विनाशकारी शक्तियों को जन्म दिया है। 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' की ध्वनि से आज विश्व प्रतिध्वनित हो रहा है। भेद-भाव तथा असमानता ने समाज के विविध अंगों के बीच चौड़ी खाई उत्पन्न कर दी है। फलस्वरूप आज सर्वत्र अशांति ही अशांति दिखाई दे रही है। विश्व के समक्ष शांति की एक विकट समस्या है। इस समस्या के हल के लिए सभी विचारवान् व्यक्ति प्रयत्नशील हैं।

आज विश्व दो पारस्परिक विरोधी विचार-धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। उन्हीं के अनुसार वह दो भागों में विभक्त हो गया है—एक साम्यवादी और दूसरा पूँजीवादी। साम्यवादी भाग का प्रतिनिधि है रूस और पूँजीवादी भाग का प्रतिनिधि है अमेरिका। दोनों अपनी-अपनी शक्ति बढ़ा रहे हैं। दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं, दोनों शक्ति-संतुलन के निमित्त युद्ध के नवीनतम अस्त्र-शस्त्रों से अपने को सुसज्जित कर रहे हैं। वास्तव में विश्व-शांति के मार्ग में दोनों ही रोड़े हैं। दोनों ही हिंसा के गर्हित पथ के

पथिक हैं। साम्यवादी सिद्धान्त, आर्थिक शोषण के अन्त, को हम विश्व-शांति का एक अच्छा उपाय मानते हैं। जब सभी अपने-अपने परिश्रम के फल का उपभोग करेंगे, कोई किसी की कमाई पर हाथ साफ नहीं करेगा, तो फिर असन्तोष क्यों होगा ? जिसको भरपेट भोजन नहीं मिलेगा, जिसको तन ढकने को पर्याप्त वस्त्र नहीं प्राप्त होगा, उसके चित्त में कैसे शांति उत्पन्न हो सकती है ? विश्व में शांति स्थापित करने के निमित्त यह नितान्त आवश्यक है कि समस्त व्यक्तियों की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय। किसी को न भूखा रहने दिया जाय और न नंगा। आर्थिक शोषण अथवा आर्थिक असमानता का अन्त करने के हेतु प्रत्येक देश आवश्यक कानून बनाए। पर बलात् तलवार द्वारा रक्त का अर्घ्य देकर आर्थिक समानता स्थापित करने के हम विरोधी हैं। हिंसा सदैव अशांति की जननी है। उसके द्वारा भयवश क्षणभंगुर ब्राह्य शांति भले ही स्थापित हो जाय। स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए हृदय का योग परमावश्यक है।

सामाजिक भेद-भाव भी विश्व-शांति के मार्ग का एक कंटक है। ऊँच-नीच की भावना विदा होनी चाहिए। समाज-व्यवस्था की नींव समानता और प्रेम पर रखनी चाहिए। स्त्रियों को उठाकर पुरुषों के समान स्तर पर लाना चाहिए। उन्हें उन्नति की समान सुविधाएँ मिलें। उनके अधिकार भी समान हों—उनके महान् गौरव की रक्षा की जाय, उन्हें प्रतिष्ठित किया जाय। किसी ने ठीक ही कहा है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।"

हरिजनों को अस्पृश्यता के कलंक से मुक्त किया जाय। उन्हें उच्च वर्ण के समान उन्नति की सुविधाएँ प्रदान की जायँ। 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' के सिद्धान्त का पालन किया जाय। धार्मिक भेद-भाव भी समाप्त होना चाहिए। अपने-अपने धर्म का पालन सब करें। पर आपस में प्रेम-भाव रक्खें। धार्मिक द्वेष का अन्त किया जाय। आज हम अपने को अंग्रेज, यहूदी, रूसी, जापानी, चीनी, हिन्दू, मुसलमान या काले-गोरे के रूप में देखते हैं और दूसरों से पृथक् समझते हैं। गोरे लोगों में महानता की चेतना (Superiority Complex) इतनी बढ़ गई है कि वे काले लोगों को असभ्य,

पिछड़ा हुआ कहकर उनको अपना दास बनाना चाहते हैं। वे उनसे न मिल जुलना चाहते हैं और न बराबर का सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं। उनकी दृ काले लोग सर्वथा हीन हैं। कितना अनुचित है यह भेद-भाव ! हम काले-गे सब एक ही परमपिता की सन्तान हैं। हम सबका शारीरिक, मानसिक आत्मिक विकास समान है। फिर चमड़े के आधार पर यह भेद-भाव क मानव-समाज से यह दोष दूर होना चाहिए।

विश्व-शांति के लिए आध्यात्मिकता का अवलम्बन नितान्त आवश्यक विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप मानव-जीवन में अनेक सुविधा एवं सुख-सामग्री का समावेश हुआ है। इससे मनुष्य अधिक सांसारिक त विलास-प्रिय हो गया है। विद्युत् का दमदमाता हुआ शुभ्र प्रकाश, पंखा, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीफोन, केमरा, टेलीविजन, क्रीम, पाउडर, सेंट, सिनेमा आदि ने विश्व को मोहिनी स्वरूप प्रदान किया है। आज सुख-साधना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बनी हुई है। आज 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' (Eat, drink and be merry) में ही हम जीवन का साफल्य समझ रहे हैं। इन्द्रिय-पोषण की चिन्ता में सदैव व्यस्त रहकर हमने आत्मा को भुला दिया है। पर क्या इस मृग-तृष्णा से शान्ति मिल सकती है ? कदापि नहीं। शान्ति मिलती है अपनी आवश्यकताओं को कम करके सादा और पवित्र जीवन व्यतीत करने से। शान्ति मिलती है संतोष से। शान्ति मिलती है संसार की तड़क-भड़क और विलास-सामग्री से मुख मोड़कर अन्तर्मुखी होने से। शान्ति मिलती है दीन-दुखियों की सेवा करने से, भूखे को भोजन कराने से, नंगे को वस्त्र पहनाने से, प्यासे को पानी पिलाने से, रोते हुए के आँसू पोंछने से, घायल की पट्टियाँ बाँधने से। स्वार्थ के वशीभूत होकर, भौतिकता (materialism) के भँवर में पड़कर, आहत-पीड़ितों को ठुकराकर, दीन-दुखियों को कुचल कर, शान्ति-प्राप्ति असम्भव है। अतः यदि विश्व-शान्ति स्थापित करनी है तो मानव-जाति को भौतिकता से पिंड छुड़ाकर नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर लाना अत्यावश्यक है। यदि विश्व-शांति स्थापित करनी है तो मानव-जाति को स्वार्थ के संकुचित घेरे से बाहर निकलकर परमार्थ की ओर अग्रसर होना चाहिए।

विश्व-शांति के लिए विश्व-बन्धुत्व की भावना का भी प्रचार होना
चाहिए । हमारी संस्कृति हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ पढ़ाती है । वह
में सिखाती है कि हम प्राणीमात्र को अपनी आत्मा समझें, हम प्राणीमात्र
साथ प्रेम एवं सहानुभूति का व्यवहार करें । आज विश्व-बन्धुत्व के आदर्श
सबसे ऊँचा माना जा रहा है । विश्व के समस्त राष्ट्र समस्त जातियाँ,
मस्त मनुष्य आपस में भाई-भाई की भाँति प्रेमपूर्वक रहें । कोई किसी को
सतावें नहीं । यही आज के युग की उच्चतम कल्पना है । पर यह आदर्श
हमारी संस्कृति के आदर्श से कितना नीचे है जिसमें प्राणीमात्र के प्रति
प्रेम करने का विधान है । 'सर्वभूत हितेरता' के अनुसार हमें मानवमात्र
का ही नहीं प्राणीमात्र का हित करना चाहिए । यदि हमारे हृदय में दूसरों
के लिए गुंजाइश हो, यदि हमारे हृदय में दूसरों के प्रति सद्भावना हो,
यदि हमारे हृदय में दूसरों के प्रति प्रेम हो, यदि हमारे हृदय में दूसरों के
लिए सहानुभूति हो तो न जाने कितनों का जीवन-भार हल्का हो जाय, न
जाने कितनों के आँसू पुँछ जायँ, न जाने कितनों की अशांति दूर हो जाय ।
'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे, उक्ति इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन
करती है कि हमारी मनुष्यता इसी में है कि हम दूसरों को अपने हृदय में
स्थान दें और उनके लिए कष्ट सहने को भी तैयार रहें । किसी को कष्ट
देने की तो बात दूर रही, उसके कष्ट-निवारण में हमें भरसक प्रयत्न करना
चाहिए ।

मानवता को चुनौती देने वाले द्वितीय महायुद्ध के भयंकर जन-संहार से
ऊब कर बड़े-बड़े राष्ट्रों ने विश्व में शांति स्थापित करने के निमित्त एक शांति-
संस्था को जन्म दिया, जिसका नाम 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' है । इस संस्था के
उद्देश्य हैं कि विश्व में शांति और सुरक्षा की व्यवस्था की जाय । समस्त
राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाया जाय, उनमें
सहयोग उत्पन्न किया जाय, उनकी आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के हल
करने में सहायता प्रदान की जाय, मानव-अधिकारों और आधारभूत
स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधारण

असेम्बली, सुरक्षा-परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, आर्थिक, सामाजिक तथा संरक्षण-समितियों की योजना हुई है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ ने अल्प काल में ही जिस क्षमता एवं सफलता के साथ कई राष्ट्रों की विकट समस्याओं को सुलझाया है उससे पता लगता है कि वह विश्व-शान्ति-स्थापना में बहुत महत्वपूर्ण योग दे रहा है। यद्यपि उसके पास कोई सेना अथवा शक्ति नहीं है, तथापि आज वह लोकमत तैयार करने का एक बड़ा साधन बन गया है। लोकमत की ही महान् शक्ति के आगे हिन्देशिया के मामले में डच सामन्तशाही को झुकना पड़ा और आज हिन्देशिया में प्रजातंत्रात्मक गणराज्य स्थापित हो गया है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र-संघ विश्व-लोकमत-स्थापना द्वारा अन्य राष्ट्रों के झगड़ों को सुलझाने में प्रयत्नशील है। इस संस्था ने जहाँ राजनैतिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की है वहाँ आर्थिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं। इसकेख द्य और कृषि-संगठन ने खाद्य-पदार्थों के उत्पादन और विभाजन में उन्नति का समावेश किया है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा आर्थिक प्रगति के लिए ऋण देने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने तथा राष्ट्रों को विदेशी मुद्रा प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है।

इतना होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र-संघ की पूर्ण सफलता में जो वस्तु बाधक है ५० है विश्व-नागरिकता की भावना का अभाव। जब तक हम उग्र राष्ट्रीयता और अपनी जाति की उच्चता में विश्वास करते रहेंगे तब तक हमारे हृदय में विश्व-नागरिकता की भावना को स्थान नहीं मिल सकता। आज के संघर्ष-युग में इस भावना की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमें अपनी समस्याओं, अपनी कठिनाइयों का हल इस प्रकार करना चाहिए कि अन्य राष्ट्रों अथवा अन्य जातियों की कोई हानि न हो। आज पूर्व एवं पश्चिम के राष्ट्रों के झगड़ों का निबटारा करने वाली पंचायत यदि कोई है तो वह यही संयुक्त राष्ट्रसंघ है और इससे विश्व-शांति की हमें बड़ी आशाएँ हैं।

सारांश यह है कि आज विश्व में जो विषमता, जो प्रतिस्पर्द्धा, जो अशांति फैली हुई है उसका निराकरण करके समता, समानता और शांति का साम्राज्य स्थापित करने के प्रमुख साधन आर्थिक, सामाजिक तथा

पश्चात् ही सूख जायगी वह सिंचाई का क्या काम देगी ? अतः कई नदी-घाटी एवं बाँध योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है।

सिंचाई के अतिरिक्त कृषि की अवनति का उत्तरदायित्व पुराने ढंग के हलों पर भी है। लकड़ी के बने हुए ये हल धरती में अधिक नीचे नहीं घुस सकते। अतः नीचे की मिट्टी ऊपर नहीं आ सकती। ऊपर की मिट्टी में कुछ वर्षों के पश्चात् उपजाऊ गुण नहीं रह जाते। यदि नीचे की मिट्टी ऊपर नहीं लाई जायगी तो ऊपर की मिट्टी में उपजाऊ शक्ति अधिक न होने के कारण पैदावार अच्छी नहीं हो सकेगी। अतएव अच्छी पैदावार के लिये ऐसे हलों की नितान्त आवश्यकता है जो जमीन के अन्दर दूर तक प्रविष्ट हो सकें। यद्यपि ऐसे हलों का आजकल अभाव तो नहीं है पर कृषक उन्हें प्रयोग में नहीं लाते। वे पुराने हलों के ही भक्त हैं।

अच्छी खाद के बिना भी खेती की उन्नति होना असम्भव है। जिस प्रकार मनुष्यों को भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार पेड़ों को खाद की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों को विभिन्न प्रकार के खाद की आवश्यकता होती है। गाँव के किसानों को इस बात का ज्ञान नहीं होता। वे तो चाहे जिस प्रकार की फसल उगाना चाहें एक से ही खाद प्रयोग किया करते हैं। प्रायः कृषक गोबर, पशुओं का बचा हुआ भूसा-चारा, पौधों के डंठल इत्यादि के कूरे लगा लेते हैं। वे ही खाद का काम देते हैं। खाद का यह प्रबन्ध ठीक है। खाद बनाने के लिए खेत के निकट कम्पोस्ट खाद के गड्ढे होने चाहिये। फिर गड्ढे को मिट्टी से ढक कर कुछ समय तक खाद को पकने देना चाहिये। खाद को खुला रखने से खाद की शक्ति मारी जाती है, क्योंकि वायु के संसर्ग से कई आवश्यक पदार्थ उड़ जाते हैं और यदि वर्षा हो जाती है तो कई आवश्यक पदार्थ जल में घुलकर बह जाते हैं पौधों की आवश्यकता के अनुसार रासायनिक खाद का भी प्रयोग किया जाय।

अच्छे बीजों के अभाव के कारण भी कृषि की उपज अच्छी नहीं होती। इसके लिये सरकार को पाँच-पाँच मील की दूरी पर गाँवों में उन्नतिशील बीजों के भंडार रखने चाहिये जहाँ से किसान अच्छे बीज खरीद सकें। धनभाव में किसानों को ऋण रूप में भी बीज देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

इन बातों के अतिरिक्त खेती की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि पौधों को रोगों से सुरक्षित रखने के लिये वैज्ञानिक अन्वेषण किये जायें। यह कार्य सरकार द्वारा होना चाहिये। सरकार अन्वेषण शालायें खोल जहाँ खेती की बीमारियों और पौधों को लगने वाले कीड़ों को दूर करने के लिये ढूँढ़-खोज की जाया करे। सरकार को खेती की उन्नति का विशेष ध्यान रखना चाहिये। दुनियाँ में कहीं भी कोई गवर्नमेण्ट कृषि की उन्नति पर इतना कम खर्च नहीं करती जितनी भारत की सरकार और प्रान्तीय सरकार करती हैं। पर अब सरकार इस दिशा में अपने दायित्व को समझने लगी है।

गाँवों में मवेशियों की दशा शोचनीय है। न उन्हें खाने को पर्याप्त चारा मिलता है और न उनके रोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध है। प्रत्येक देश में चरागाह हैं जिससे वहाँ की मवेशियों को चारे की कमी नहीं रहती, भारतवर्ष में चरागाह वैसे ही थोड़े हैं, फिर भी किसान उन्हें जोतकर खेतों में परिवर्तित करते हैं। इस कुप्रवृत्ति से मवेशियों के लिए चारे की कमी होती जा रही है। किसान यह नहीं जानते कि मवेशियों के पालन-पोषण के लिये, जिन पर उनकी खेती निर्भर है, चरागाहों की संख्या कितनी आवश्यक है। सहस्रों मवेशी रोगों से पीड़ित होकर मर जाते हैं। गाँवों में जहाँ मनुष्यों के रोगों की चिकित्सा का ही प्रबन्ध नहीं है वहाँ मवेशी के रोगों की चिकित्सा का क्या प्रबन्ध हो सकता है ? मवेशी की रक्षा के लिए पाँच-पाँच मील की दूरी पर प्रत्येक गाँव में पशु-चिकित्सालय होने चाहिये।

अब गाँवों की सफाई की ओर आइये। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वच्छता स्वास्थ्य की जननी है। बिना स्वच्छता का ध्यान रखे मनुष्य स्वस्थ नहीं हो सकता। गाँवों के निवासियों का ध्यान सफाई की ओर बिल्कुल नहीं है। पर जाकर देखिये तो सर्वत्र गन्दगी पाइएगा। यदि किसी रास्ते पर आप जा रहे हों और हवा में दुर्गन्ध आने लगे, मक्खियाँ अधिक उड़ती हुई दिखाई दें तो आपको समझ लेना चाहिये कि गाँव समीप आ गया है। और आगे बढ़ने पर कूड़े और गन्दगी के ढेर दिखलाई दें, अथवा मैले-कुचैले जल से भरी हुई तलैया मिले तो समझिये कि आप गाँव की सीमा पर आ गये अन्दर घुसने पर आपको सारे गाँव में धूल और मक्खियों की प्रचुरता मिलेगी। इधर-उधर गन्दे पानी

की मोरियाँ बहती हुई मिलेंगी। वर्षा-काल में तो गाँव की गन्दगी बहुत बढ़ जाया करती है। जगह-जगह कीचड़ हो जाती है और दूषित जल से छोटे-छोटे गड्ढे भर जाते हैं। उन गड्ढों में मलेरिया फैलाने वाले मच्छर हो जाते हैं। यही कारण है कि वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों में मलेरिया का प्रकोप हुआ करता है। गोबर और कूड़े के ढेरों से भी वर्षा-ऋतु में बड़ी गन्दगी फैलती है। असंख्य मक्खियाँ पैदा होकर गंदगी को चारों ओर फैलाती हैं। कहाँ तक कहें लोग चाहे जहाँ मल-मूत्र त्याग देते हैं। एक बार विहार की यात्रा करते हुये सरदार पटेल ने कहा था, "मोटर पर सोया हुआ मैं जब गंदगी के कारण जाग पड़ता था तो समझता था कि किसी गाँव के निकट आ गया हूँ। निस्सन्देह गाँव में गंदगी की चरम सीमा है। इसका बहुत कुछ कारण गाँवों में शिक्षा का अभाव है। ग्राम-सुधारकों का कर्त्तव्य है कि वे गाँवों में जाकर वहाँ के निवासियों को सफाई के लाभ और गन्दगी की हानियाँ समझावें और प्रत्येक गाँव में एक सफाई समिति की स्थापना करें। अब यह कार्य ग्राम-सभा कर रही हैं।

गाँवों में चिकित्सा का भी सुप्रबन्ध नहीं है। गन्दगी के कारण वहाँ अनेक रोगों ने स्थायी अड्डा जमा लिया है जिनसे प्रतिवर्ष अनेक मनुष्य अकाल ही काल के गाल में चले जाते हैं। प्रति वर्ष वर्षा-काल के पश्चात् मलेरिया का भयंकर प्रकोप होता है। ग्रीष्म-ऋतु में हैजा जोर पकड़ता है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि गाँवों में रोग नहीं होते, क्योंकि गाँव का जलवायु स्वास्थ्य-प्रद होता है। पर यह ठीक नहीं। गाँवों का जलवायु तो अवश्य स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है परन्तु गंदगी तो इतनी अधिक होती है कि वह स्वच्छ जलवायु के प्रभाव को नष्ट कर डालती है। सरकार का कर्त्तव्य है कि गाँवों में कम-से-कम प्रत्येक पाँच मील पर चिकित्सालय खोले।

गाँवों में शिक्षा की कमी है। यहाँ तक कि अधिकांश लोगों के लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' ही है। अशिक्षा के कारण ग्रामीण मनुष्यों का मानसिक विकास नहीं हो पाता और वे देश-विदेश को परिस्थिति से अनभिज्ञ रहते हैं। उनकी इस कूप मंडूकता का लाभ हाकिम-हुक्काम उठाते हैं। इनसे ग्रामीण मनुष्य बहुत डरते हैं और इनके अनुचित दबाव सहते हैं। साक्षर न होने के कारण वे वस्तुओं के क्रय-विक्रय के भाव नहीं जानते और ठगे जाते

हैं। प्रायः देखा जाता है कि कृषक अपना माल सस्ता बेचते हैं और दूसरे का माल महँगा खरीदते हैं। यह अशिक्षा का ही प्रसाद है। इसी अशिक्षा के कारण गांव के रहने वालों में जरा-जरा सी बातों पर मुकद्दमे चल जाते हैं। इन मुकदमों में वे ऋण लेकर भी रुपया व्यय करने में नहीं हिचकते। पुराने 'लकीर के फ़कीर' बने रह करके सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार नहीं करते। मितव्ययता के सिद्धान्तों को भी अशिक्षा के कारण नहीं जानते। वे खाने, पीने और पहिनने में तो कम व्यय करेंगे, पर विवाहों में अथवा माता-पिता के मृत्यु-भोजों में खर्च करते समय अन्धे हो जायेंगे। गाँव में अधिक नहीं तो प्रारम्भिक शिक्षा तो सबको मिलनी ही चाहिए। देहात के लोग कम-से-कम इस योग्य तो हो जायें कि अपनी मातृ-भाषा में लिखी साधारण पुस्तकें समझ सकें और समाचार-पत्र पढ़ सकें। इसके लिए प्रत्येक गाँव में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। यदि शिक्षा अनिवार्य नहीं की जायगी तो शिक्षा के महत्व को न जानने के कारण माता-पिता अपने बालकों को शिक्षित न बनाएंगे। सरकार को चाहिए कि ग्रामों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दे। शिक्षा के साथ-साथ गाँवों में पुस्तकालय और वाचानालय भी खोले जायें। इनके बिना देश-विदेश की परिस्थितियों का ज्ञान गाँव वालों को नहीं हो सकता। सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से वे अनभिज्ञ रहेंगे। फिर वे समाज अथवा देश का सुधार कैसे कर सकेंगे? गाँव में लड़कियों को पढ़ाना तो पाप समझा जाता है। कह नहीं सकते यह कुरुचि कहाँ से गाँवों में पहुँच गई है। पाठक भली-भाँति जानते होंगे कि लड़कियों का पढ़ाना समाज के लिये कितना आवश्यक है। बच्चा अपनी माता से जितनी सरलता से सीख सकता है उतनी बातें वैसी सरलता से वह आजन्म नहीं सीख सकता। यदि लड़कियाँ अशिक्षित रहेंगी तो वे माता बनने पर अपने बच्चों को क्या शिक्षा दे सकेंगी? इसके अतिरिक्त स्त्रियों में जो कुरीतियाँ, अंध-विश्वास आदि प्रचलित हैं उनके उन्मूलन के लिये भी शिक्षा नितान्त वांछनीय है।

गाँवों में प्रायः तीन-चौथाई लोगों की जीविका कृषि पर निर्भर है। कृषक लगभग चार माह तक बेकार रहते हैं। यदि अपने इस समय को वे घरेलू

उद्योग-धन्धों में लगावें तो उनकी दरिद्रता दूर हो सकती है और वे जमींदारों और महाजनों के ऋण से मुक्त हो सकते हैं। आजकल किसान ऋण से बेतरह ग्रस्त है। महाजन और जमींदार दोनों उन्हें खूब तंग करते हैं। उनका जीवन दुःखमय है। उनकी आपदाओं का कभी अन्त नहीं होता। वे प्रत्येक वर्ष कड़े से कड़ा परिश्रम करते हैं तो भी उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिल पाता। उनके शरीर भूख के मारे घुले जा रहे हैं। वे अस्थि-पंजर हो रहे हैं। उनके मस्तिष्क ऋण की चिन्ता से विगड़े जा रहे हैं! ऐसी परिस्थिति में किसानों को अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए गृह-उद्योग का अपनाना बहुत आवश्यक है। हमारे यहाँ कई ऐसे उद्योग-धन्धे हैं जिनको किसान वैठक के समय में कर सकते हैं। जैसे—कागज बनाना, चर्खा कातना, कपड़ा बुनना, रेशम के कीड़े पालना, बागवानी, शहद की मक्खियाँ पालना, कच्चा चमड़ा पकाना, रस्सी बटना, चटाइयाँ और डलियाँ बनाना, तेल-इत्र बनाना इत्यादि। इनमें से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार धन्धे किसानों को चुन लेने चाहिए। मुर्गी पालना अच्छा धन्धा है, पर उन्हीं के लिए जो अहिंसावादी नहीं हैं। हमारे देश में इस व्यवसाय की ओर अभी ध्यान नहीं गया है। चमार, भंगी, खटीक और कंजड़ आदि कुछ अछूत जातियाँ मुर्गियाँ पालती हैं और कुछ जीविका, उपार्जन कर लेती हैं। अण्डों की खपत दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है और खाद्य-पदार्थ के रूप में इनके महत्व पर जोर दिया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त मुर्गियों से खेती को भी लाभ पहुँचता है। वे पौधों की बीमारियों को दूर नहीं भगातीं, बल्कि जो कीड़े पौधों को हानिकर होते हैं उन्हें खा जाती हैं और खेतों में बहुत अच्छा खाद फैलाती हैं। आजकल सुगन्धों और सेन्टों की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ऐसी दशा में तेल-इत्र बनाने का व्यवसाय भी बहुत लाभप्रद हो सकता है। प्रकृति ने भारतवर्ष में सैकड़ों प्रकार के फूल पैदा किए हैं जिनसे सुगन्धित तेल और इत्र बनाए जा सकते हैं। रेशम के कीड़ों का पालना भी अच्छा व्यवसाय है। रेशम का कीड़ा अंडी, शहतूत अथवा करोरू के पेड़ पर रहता है इससे कच्चा रेशम सितम्बर या नवम्बर के माह में इकट्ठा किया जाता है। इस धन्धे से देश में बहुत से बेकारों की जीविका चल सकती है। कच्चे चमड़े का पकाना भी अच्छा व्यवसाय है।

प्रतिवर्ष भारतवर्ष से बहुत सा कच्चा चमड़ा विदेश जाता है और वहाँ से उसकी चीजें बनकर पुनः भारत को आती हैं। यदि यहीं पर वह पका लिया जाया करे तो कितना अधिक लाभ हो। कहना नहीं होगा कि संसार के सभी देशों के किसान कुछ न कुछ उद्योग-धन्धे करते हैं, फिर भारतीय किसान ऐसा क्यों नहीं करता ?

आजकल देखा जाता है कि गाँवों में झगड़े बहुत होते हैं। छोटी-छोटी बातों पर अशिक्षा के कारण ग्रामीण मनुष्य लड़ मरते हैं। इन झगड़ों के मुकदमे चलते हैं जिनमें दरिद्र ग्रामीण जनता पिस जाती है। अब गाँवों में अदालती पंचायतें स्थापित कर दी गई हैं जिससे गाँव वालों के सब झगड़े निबट जाया करें और उनका बहुत रुपया बच जाया करे। सहयोगी समितियों की भी ग्रामों को आवश्यकता है। उन्हें सरकार का संरक्षण एवं सहायता मिलनी चाहिए। गाँव के मनुष्यों को ऋण देने का कार्य सहयोगी समितियाँ करें। किसानों की उपज की विक्री के हेतु विक्रय समितियाँ हों। बीज, कपड़ा आदि की व्यवस्था के लिए भी समितियां हों।

गाँव में यातायात के लिए जन-मार्गों का सुप्रबन्ध नहीं है। प्रायः गाँव को राज-मार्ग से जोड़ने वाले दगड़े होते हैं जिनमें चलना कष्टप्रद होता है। वर्षा ऋतु में तो दगड़ों में पानी भर जाने से गाँव का मार्ग ही रुक जाता है। वाहन का प्रयोग असम्भव हो जाता है और पैदल चलने पर पैर गीली मिट्टी में फँस जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण जन-मार्गों को पक्का किया जाय।

वास्तव में हमारे गाँवों की जैसी दुर्दशा है वैसी किसी देश के गाँवों की नहीं। अशिक्षा, गन्दगी, कृषि की अवनति, बेकारी, ऋण आदि रोगों ने भारतीय ग्रामों के कलेवर को खोखला कर डाला है। परन्तु इधर कुछ दिनों से सरकार का ध्यान गाँवों की समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ है और वहाँ ग्राम सभाओं की स्थापना की गई है। पंचवर्षीय योजनाओं में भी ग्राम-विकास को विशेषता दी गई है। सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय प्रसार सेवा के क्षेत्र भी गाँव ही रखे गए हैं कि इस नवीन व्यवस्था से निकट भविष्य में हमारे गाँवों की दशा पूर्णतः सुधर जायगी।

राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना— महात्मा गाँधी का आविर्भाव
(२) प्रारम्भिक जीवन एवं शिक्षा
(३) वकालत एवं अफ्रीका-सत्याग्रह
(४) भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में कार्य
(५) हरिजन-आन्दोलन से मृत्यु-पर्यन्त
(६) गाँधी जी की आदर्शता
(७) उपसंहार—गाँधीजी की महत्ता

भारतमाता की सूखी नसों में रक्त का संचार करने वाले, भारत को एक राष्ट्र बनाने वाले, भारत में जाग्रति का निर्मल प्रकाश फैलाने वाले, भारत को स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने वाले राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी का आविर्भाव उस समय हुआ जब देश पूर्णतः सोया हुआ था, राष्ट्रीयता का कोई नाम भी नहीं जानता था, सभी पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे, जनता संतप्त थी। ऐसे समय पीयूस-वर्षी मेघ की भाँति भारत-भूमि पर महात्मा गाँधी अवतरित हुए।

आपका जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ ई० को काठियावाड़ प्रदेश के पोरबन्दर राज्य के एक कुलीन घराने में हुआ। आपकी माता पुतलीबाई बहुत साधु-स्वभाव और पूजा-पाठ तथा व्रत-उपवास में निष्ठा रखने वाली थीं। आप बचपन से ही सत्य और अहिंसा के पुजारी रहे हैं और माता, पिता, गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों के प्रति भक्ति और निष्ठा आप में जन्म से ही देखी जाती है। घर में राम-नाम की चर्चा रहने के कारण आपकी राम-नाम और रामायण में बचपन से ही श्रद्धा होगई थी। बाल्यावस्था में आप मन्द-बुद्धि और संकोच-शील थे। आपका विद्यार्थी-जीवन साधारण रहा। सन् १८८७ ई० में मैट्रिक पास करके आप भावनगर कॉलेज में भरती हुए और सन् १८८८ में वैरिस्ट्री पढ़ने विलायत चले गये। वहाँ आपने बड़ी सादगी और पवित्रता का जीवन व्यतीत किया। सन् १८९१ में आप वैरिस्ट्री पास करके भारतवर्ष लौट आए।

बम्बई में एक असफल वकील के रूप में आपके सार्वजनिक जीवन का आरम्भ हुआ। आप खूब तैयारी करके अदालत में जाते, पर वहाँ सब कुछ भूल

जाते। मुकदमे की पैरवी करते समय आपके हाथ-पैर काँपने लगते। निराश होकर आप राजकोट आए और वहाँ अर्जियाँ दावे लिखकर जीविका कमाने लगे। वहाँ काले-गोरे के भेद-भाव से आपके हृदय पर ठेस लगी और आपका मन वहाँ से ऊब गया। इस समय पोरबन्दर के एक फर्म के ४० हजार पौण्ड के दावे की देख-रेख के लिये आपको अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ पगड़ी पहने आप अदालत में गये। वहाँ आपसे पगड़ी उतारने को कहा गया। आप उठकर चले आए। उसी दिन से अफ्रीका में उस आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ जिसने आगे चलकर इतना प्रचण्ड रूप धारण किया। स्थान-स्थान पर, रेलवे में, होटल में, घोड़ा-गाड़ी पर, जो आपका अनादर हुआ उससे आपके हृदय को बड़ा दुःख हुआ। भारतीयों के साथ भेद-भाव को न सहकर उसके विरुद्ध आपने आन्दोलन किया। सन् १९१४ में अफ्रीका-सत्याग्रह में पूर्ण सफलता पाने के पश्चात् आप स्वदेश लौट आए।

बम्बई और पूना में आपका खूब स्वागत हुआ। आप भारत की छोटी-छोटी समस्याओं को सुलझाने लगे। यूरुपीय समर में आपने बड़ी लगन से अंग्रेजों की सहयता की। युद्ध में की गई सेवा और सहायता के पुरस्कार-स्वरूप राजनैतिक अधिकार पाने की आशा पर भारतीय सरकार ने रौलेट एक्ट बनाकर तुषारपात कर दिया। इसके विरुद्ध देश में आन्दोलन हुआ। कुछ भी परिणाम न निकलने पर आपने सत्याग्रह शुरू करने की घोषणा की। इसी समय जलियाँवाला भयानक हत्याकांड हुआ जिससे सत्याग्रह के लिए अहिंसात्मक वातावरण न रहने के कारण आपने उसे बन्द कर दिया। पर सरकार के दमन के कारण सन् १९२० में आपने असहयोग आंदोलन आरम्भ कर दिया। आप गिरफ्तार हुए और आपको ६ मास की सजा दी गई, पर आपके अपेनडिसाइटिस हो जाने के कारण आपको अवधि समाप्ति होने से पहले ही छोड़ दिया गया। आपने सन् १९३० में नमक-कानून के विरुद्ध पुनः आन्दोलन आरम्भ कर दिया। सरकार ने आपसे समझौता कर लिया और आन्दोलन बन्द हो गया। फिर आप भारतीय शासन-विधान की रूपरेख तैयार करने के लिये बनाई गई गोल-मेज-परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इङ्गलैंड गए, पर वहाँ से निराश लौटे। यहाँ सरकार ने समझौते को तोड़ दिया था। अतः आपने पुनः आन्दोलन शुरू कर

दिया। सरकार के द्वारा साम्प्रदायिक निर्णय में हिंदुओं से अछूतों को अलग करके उन्हें पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिए जाने पर आपने आमरण उपवास करने की ठान ली। फलतः सरकार ने पृथक् निर्वाचन रद्द कर दिया।

फिर आपने अछूतों की दशा सुधारने के लिए जेल से ही हरिजन-आन्दोलन आरम्भ किया। सरकार ने आपको जेल से छोड़ दिया। यह आपके प्रयत्नों का ही फल है कि आज हरिजनों को मन्दिर प्रवेश, शिक्षा आदि की सुविधायें मिल गई हैं और उनके साथ सहानुभूति तथा समानता का व्यवहार होने लगा है। आपने कुछ वर्षों के लिए कांग्रेस से अवकाश ग्रहण करके अपने को ग्राम-सुधार में लगाया। फिर आप यूरुपीय युद्ध में भारतीय सहायता के विरुद्ध सत्याग्रह-संचालन करने के कारण कारागृहवासी हुए। कुछ दिन पश्चात् मुक्त होकर आप भारतीय स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करने में पुनः संलग्न हो गए। फलतः १५ अगस्त १९४७ ई० को देश स्वतन्त्र हो गया। फिर आप मुस्लिम लीग की कूट-नीति के फलस्वरूप उत्पन्न हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के निराकरण में संलग्न हुए। ३० जनवरी १९४८ ई० को एक नर-पिशाच द्वारा अपके जीवन का अन्त हो गया। इस दुर्घटना से देश शोक-सागर में निमग्न हो गया। भारतमाता का लाड़ला लाल देखते-देखते लुट गया। भारत-माता दीन-हीन होकर आठ-आठ आँसू रोने लगी।

गाँधीजी एक आदर्श नेता थे। आप सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। कांग्रेस को सत्य और अहिंसा पर कायम रखने की ओर आपने विशेष ध्यान रक्खा था। उसके नियन्त्रण और अनुशासन को दृढ़ रखने पर भी आपने जोर दिया था। कांग्रेसजनों की सत्य और अहिंसा-सम्बन्धी भूलों को आप अक्षम्य मानते थे और उनके भार से कांग्रेस का नष्ट-भ्रष्ट हो जाना भी आपकी दृष्टि में निश्चित था। आप राजनीति और धर्म का सुन्दर समन्वय करते थे। धर्म और नीति की दृढ़ नींव पर जो राजनीति स्थित नहीं है उससे आप घृणा करते थे। आप कहते थे—"राजनीति धर्म की सेविका है, धर्मरहित राजनीति मृत्यु का जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"

आपका चरित्र उज्ज्वल एवं अनुकरणीय है। आपका ईश्वर में अटल-विश्वास था। आपका कथन था—"मैं बिना हवा और पानी के जी सकता हूँ,

परन्तु ईश्वर के विना नहीं।" आप प्रति सोमवार का मौन-व्रत रखते थे। गीता तथा रामायण का अध्ययन करते थे। आप नित्य प्रातःकाल और सायंकाल संध्या करते थे। आप नम्रता और सादगी की मूर्ति थे। आपने घुटने टेककर श्री जिन्ना से साम्प्रदायिक एकता की भीख माँगी थी। सादगी आपको इतनी प्रिय थी कि घुटनों तक की धोती और खद्दर के टुकड़े के अतिरिक्त आप शरीर पर कुछ नहीं धारण करते थे। त्यागी भी आप प्रथम श्रेणी के थे। भारतमाता के लिए आपने अपना सर्वस्व वलिदान कर दिया था। देश के पाप के प्रायश्चित के लिए आपने लम्बे-लम्बे उपवास किए थे। देश की सेवा करते हुए आपने अपने स्वास्थ्य की कभी चिन्ता नहीं की थी। आपके हृदय में विश्व-भर के लोगों के लिए स्थान था। आप सबके साथ प्रेम तथा समानता का व्यवहार करते थे। किसी प्रकार का भेद-भाव आपको नहीं रुचता था। आपने हिन्दू समाज के पददलित अंग को 'हरिजन' नाम से विभूषित किया था। आप स्त्रियों को भी उठाकर पुरुषों के वरावर लाना चाहते थे। हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव मिटाने के लिए आपने कई वार अपने प्राणों तक की वाजी लगा दी थी और अन्त में अपने शरीर को इसी लक्ष्य की साधना में वलिदान कर दिया।

आपकी महत्ता वर्णनातीत है। आप एक आदर्श राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वरन् एक उत्कृष्ट सुधारक और शिक्षा-शास्त्री भी थे। अछूतों की दशा को आपने सुधारा था। गाँवों की दशा में आपने सुधार किया था। 'वर्धा-शिक्षा-योजना' आपने चलाई थी। आप भारत के स्त्री, पुरुष, वालक, वृद्ध सबके हृदय-सम्राट् थे। आप हमारी आशा थे, आप हमारे सर्वस्व थे। आपकी कठोर साधना और तपस्या धन्य है और धन्य है वह जननी जिसके गर्भ से आप सरीखी दिव्य आत्मा आविर्भूत हुई। आज यद्यपि आप हमारे वीच नहीं है, तथापि आपका पुनीत सन्देश हमारे हृदय में विराजमान है।

भारतीय संस्कृति और साम्यवाद

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—साम्यवाद का प्रचार

(२) साम्यवाद का लक्षण

(३) भारतवर्ष के लिए साम्यवाद की आवश्यकता
(४) साम्यवाद का भारतीय संस्कृति के अनुकूल न होना
(५) क्या साम्यवाद के प्रचार से हमारी संस्कृति को हानि पहुँचेगी ?
(६) उपसंहार—भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रचार में कठिनाइयाँ।

इस बीसवीं शताब्दी में साम्यवाद का चारों ओर बोलबाला है। सारे विश्व में इसकी आराधना हो रही है, इसकी तूती बोल रही है। भिन्न-भिन्न देशों में इसके आन्दोलन हो रहे हैं और पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है। इङ्गलैण्ड और अमेरिका जैसे प्रख्यात पूँजीवाद देश भी इसी की लपेट में आ गये हैं। वहाँ पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूर-आन्दोलन हो रहे हैं और उन्हें पर्याप्त सफलता मिलती जा रही है। वास्तव में आजकल समस्त संसार में साम्यवाद की लहर फैल रही है। हमारा भारतवर्ष भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सका है। यहाँ दिन-प्रतिदिन साम्यवादी विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। किसानों और मजदूरों के जो नित्य नये आन्दोलन हो रहे हैं उनमें साम्यवाद की झलक देखी जाती है। परन्तु यहाँ साम्यवाद अभी अपना घर नहीं कर सका है। इसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है। अनेक व्यक्ति इसका विरोध कर रहे हैं।

साम्यवाद क्या है ? साम्यवाद का अभिप्राय समाज के आर्थिक भेद-भाव का निराकरण है, समाज में आर्थिक समानता की स्थापना है। इसके अनुसार समाज दो भागों में विभक्त है—धनी और दरिद्र। एक तो वे लोग हैं जो अपने व्यक्तिगत लाभ और सुख के लिए गरीबों का रक्त चूस-चूस कर रुपयों से तिजोरियाँ भर रहे हैं, और दूसरे वे लोग हैं जो भूखे और नंगे रहकर पशु-तुल्य परिश्रम करने में अपने प्राण होम रहे हैं। एक वे लोग हैं जो मखमल के गद्दों पर पड़े हुए जीवन के सुख-सागर में गोते लगाते रहते हैं और दूसरे वे लोग हैं जो दिन-रात पिसते रहने पर भी पेट के लिए रोटियाँ और शरीर ढकने के लिए वस्त्र भी नहीं पा सकते हैं, सुख की तो बात ही क्या कहें ? इस सामाजिक विषमता का निराकरण करने के लिए साम्यवाद ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम कराया जाय और उस कार्य पर समाज का आधिपत्य हो, व्यक्ति का नहीं। इसके

अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज की ओर से की जाय। इस प्रकार के सामाजिक संगठन से पूँजी और पैदावार दोनों व्यक्तियों के हाथ में न रहकर समाज के हाथों में चले जायेंगे जिससे धनिकों द्वारा दरिद्रों का रक्त-शोषण दूर हो जायगा।

क्या भारतवर्ष को साम्यवाद की आवश्यकता है? भारत में दरिद्रता का पूर्ण साम्राज्य है। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ रोटी की समस्या प्रति-दिन भयंकर होती जा रही है। यहाँ के किसान और मजदूर दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति बने हुए हैं। दाने-दाने को तरसते हैं और उनके पास नग्न शरीर को ढकने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र भी नहीं हैं। उनके शरीर भूख के कारण घुले जाते हैं। उनकी पसीने की कमाई पर जमींदार और पूँजीपति हाथ साफ करते हैं। उन्हें अपने परिश्रम के फलस्वरूप मुट्ठी भर अन्न भी नहीं मिलता पर पूँजीपति तथा जमींदार को उसी से विलास-सामग्री उपलब्ध होती है। बेचारे किसानों और मजदूरों की कमाई से इन लोगों का मोटरों पर चढ़कर सैर-सपाटे करना उनकी छाती पर मूँग दलना है। परिश्रम कोई करता है और उसके फल का उपभोग कोई करता है। कितना अन्याय है! इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का कैसा दुरुपयोग होता है। एक ओर तो मनुष्य क्षुधाग्नि में जलते हैं और दूसरी ओर अय्याशी में रुपये उड़ाये जाते हैं। इसके नियन्त्रण की आवश्यकता है। अत; हमारे देश के लिए साम्यवाद वांछनीय है। भारतवर्ष को दरिद्रता के चंगुल से मुक्त करने के लिए साम्यवाद की उपादेयता कौन स्वीकार न करेगा?

पर साम्यवाद हमारी संस्कृति के सर्वथा अनुकूल नहीं है। भारतीय संस्कृति भाग्यवाद की भक्त है। हम लोगों का विश्वास है कि पूर्वजन्म के क्रमानुसार मनुष्य को सुख-दुख, सम्पत्ति-विपत्ति आदि की प्राप्ति होती है। यदि कोई मनुष्य धनाढ्य है तो इसे पूर्व-जन्म के सत्कार्यों का फल समझिए। यदि कोई मनुष्य भूखा मरता है तो इसे पूर्व-जन्म के कुकर्मों का परिणाम समझिए। भाग्यवाद के अनुसार इस विषमता को दूर करना धनिकों के प्रति अन्याय करना है। साम्यवाद समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है, जो पूर्णतः भाग्यवाद के प्रतिकूल है।

तो क्या भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रचार से भारतीय संस्कृति को हानि पहुँचेगी ? कुछ लोगों का विश्वास है कि यदि इस देश में साम्यवाद का प्रचार हो जायगा तो यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। समझ में नहीं आता कि किस प्रकार साम्यवाद से हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात होगा। हाँ, उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन अवश्य हो जायगा। धर्म की आड़ में जो आर्थिक-शोषण हो रहा है, उसका अन्त हो जायगा। आजकल बहुत से महन्त या धर्म के ठेकेदार विलास में रुपये फूँक रहे हैं। उन रुपयों की पाई-पाई में गरीब किसान और मजदूर का पसीना है। इस प्रकार का आर्थिक दुरुपयोग दरिद्रों को और भी दरिद्र बना रहा है। भारतवर्ष में मन्दिरों से आय के बड़े-बड़े साधन लगे हुए हैं जिनसे महन्तों को सहस्रों रुपयों की वार्षिक आमदनी होती है। ये धर्म के ठेकेदार अकर्मण्य जीवन व्यतीत करते हुए गरीबों की कड़ी कमाई का अपव्यय करते हैं। यह बड़ी बुरी बात है। यदि मन्दिरों की जायदादों पर जनता का अधिकार हो जाय जिससे भूखों को अन्न और नंगों को वस्त्र मिल सके तो कितना अच्छा हो ! इस प्रकार की व्यवस्था से भारतीय संस्कृति का कोई अहित न होगा।

साम्यवाद के अनुसार यहाँ के भिखारी भी कार्य में लगाये जायँगे। साम्यवाद किसी को भी अकर्मण्य छोड़ना नहीं चाहता। इससे भी हमारी संस्कृति की कोई हानि नहीं होगी। वास्तव में हमारी संस्कृति इन छोटी-मोटी बातों से प्रभावित नहीं हो सकती। संस्कृति के प्रधान अंग खान-पान, वेष-भूषा और आचार-विचार हैं। इनमें परिवर्तन होने से संस्कृति को धक्का लगता है। इसके अतिरिक्त आजकल जैसा भिक्षा-व्यवसाय देखा जाता है उसका हमारी संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। इस व्यवसाय से हमारा समाज दिन-प्रतिदिन अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा है। लोगों में काम से जी चुराने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

सारांश यह है कि साम्यवाद भारतीय संस्कृति के लिए हानिकर नहीं है। पर क्या यह भारतवर्ष में सफलता पा सकेगा ? इसमें सन्देह है। इसके मार्ग में पहली कठिनाई तो अशिक्षा है। हमारे देश के मजदूर और किसान प्रायः पूर्णतः अशिक्षित हैं। वे साम्यवाद को समझ ही नहीं सकते, फिर उसके अनु-

सार कार्य करना तो दूर की बात है। दूसरी कठिनाई भाग्यवाद है। हमारे देश में प्रायः लोग भाग्य के अन्ध-भक्त हैं। यदि वे धनाढ्य हैं तो भाग्य के कारण हैं और दरिद्र हैं तो दिनों के फेर से हैं—ऐसा उनका विश्वास है। अतः वे अपनी दशा से सन्तुष्ट रहते हैं। तीसरी कठिनाई स्वार्थ है। साम्यवाद समाज के स्वार्थ पर अवलम्बित है। वह व्यक्तिगत स्वार्थ का विरोधी है। मनुष्य स्वभावतः व्यक्तिगत स्वार्थ का उपासक होता है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का तभी उपयोग करता है जब उसे इस प्रकार के उपयोग से अपना तथा अपने परिवार को लाभ दिखाई देता है, समाज के लाभ को वह पीछे देखता है। अतः साम्यवादी समाज में व्यक्ति अपनी योग्यता का भरसक प्रयोग नहीं कर सकता। इससे समाज का अहित होगा। देखें भविष्य की कसौटी पर साम्यवाद कैसा उतरता है ?

शिष्टाचार और भारतवर्ष

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—शिष्टाचार का रूप
(२) समाज के लिए शिष्टाचार की आवश्यकता
(३) व्यक्ति के लिए शिष्टाचार की आवश्यकता
(४) भारतवर्ष में शिष्टाचार
(क) भाषा अथवा वाणी-सम्बन्धी
(ख) शारीरिक चेष्टा सम्बन्धी
(५) हमारे देश में शिष्टाचार-सम्बन्धी कमियाँ
(६) उपसंहार—सारांश

शिष्टाचार सदाचार का ही एक अङ्ग है। उसका सम्बन्ध आचरण के वाह्य रूप से है। शिक्षित और सभ्य समाजों में जो पारस्परिक व्यवहार होता है उसे शिष्टाचार कहते हैं। परस्पर प्रेम, विनय एवं आदर का प्रदर्शन करते हुए एक-दूसरे की सुविधा, अधिकार और सुख-दुख का ध्यान रखना शिष्टाचार के अन्तर्गत है। माता-पिता के सम्मुख सन्तान का, पति के सम्मुख पत्नी का, राजा के सम्मुख प्रजा का, गुरु के सम्मुख शिष्य का, स्वामी के सम्मुख नौकर

का, अफसर के सम्मुख मातहत का अथवा सन्तान के सम्मुख माता-पिता का, पत्नी के सम्मुख पति का, प्रजा के सम्मुख राजा का, शिष्य के सम्मुख गुरु का, नौकर के सम्मुख स्वामी का, मातहत के सम्मुख अफसर का, अथवा समान स्थान वालों में मर्यादा तथा सम्यतापूर्ण आचरण शिष्टाचार कहलाता है। उसका सम्बन्ध प्रधानतः भाषा के प्रयोग और शारीरिक चेष्टाओं से है।

समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिये शिष्टाचार आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। जिस समाज में पिता के प्रति पुत्र उचित व्यवहार नहीं करता, अफसर के प्रति मातहत का आचरण ठीक नहीं, गुरु के सम्मुख शिष्य शिष्टता नहीं प्रदर्शित करता उसमें अमर्यादा फैल जायगी और व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। किसी भी समाज की स्थिति दृढ़ तभी रह सकती है, जब उसके विविध अङ्ग अपने-अपने कर्त्तव्य का औचित्य के साथ पालन करें। जहाँ अनौचित्य का प्रवेश हुआ, समाज विच्छृङ्खल होकर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। उदाहरणार्थ; शिष्टाचार यह चाहता है कि अध्यापक के कक्षा में आने पर विद्यार्थियों को उसके सम्मान के लिए खड़ा होना चाहिए। यदि इस नियम की अवहेलना की जाय और छात्रगण अध्यापकों के प्रति निर्दिष्ट आदर न प्रदर्शित करें तो अध्यापक वर्ग का कोई अहित न होगा तथापि समाज में अव्यवस्था एवं अशान्ति फैलेगी। व्यवस्था समाज को संजीवनी शक्ति प्रदान करने वाला रसायन है। उसी के द्वारा समाज के भिन्न-भिन्न अङ्ग सम्बद्ध तथा संगठित होकर फूलते-फलते हैं, पुष्ट होते है।

समाज के लिए ही शिष्टाचार उपयोगी नहीं है, व्यक्ति के लिए भी है। शिष्टाचार से मुख मोड़कर कोई व्यक्ति उन्नति-पथ-गामी नहीं बन सकता। जो बड़ों का आदर नहीं करता, पूज्यजनों को मस्तक नहीं नवाता, गुरु को देखकर अपना आसन नहीं छोड़ देता, वह मनुष्य कैसे उन्नति कर सकता है? शिष्टाचार को मनुष्य का आभूषण समझना चाहिए। मनुष्य की शोभा शिष्टाचार से होती है। शिष्टाचारी व्यक्ति सर्वत्र आदर पाता है। सब लोग उससे प्रसन्न रहते हैं, सब लोग उससे प्रेम करते हैं। वह क्या राजा क्या रंक, क्या धनी क्या निर्धन, क्या विद्वान क्या मूर्ख, क्या शिष्ट क्या अशिष्ट—सभी

के हृदय पर समान रूप से अधिकार प्राप्त कर लेता है। शिष्टाचार के मन्त्र से अभिमंत्रित होकर वह समस्त प्राणियों के मन को मोह लेता है। उसमें वह अमोघशक्ति आ जाती है जो उसे समाज में प्रतिष्ठा का पात्र बनाती है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए शिष्टाचार का महत्व कौन स्वीकार न करेगा ? आचरण की मधुरता में वह जादू है जो सर्वथा अपना प्रभाव डालता है। कोई भी उसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। जहाँ उसका प्रवेश हो जाता है वहाँ सफलता देवी करबद्ध उसका स्वागत करती है।

हमारे देश में आचरण को जीवन का सर्वस्व समझा गया है। हमारा प्राचीन इतिहास इसका ज्वलन्त उदाहरण है। राम, भरत, शिवजी, सीता, सावित्री, गार्गी आदि पुरुष-स्त्रियाँ आचरण के आदर्श रूप कहे जा सकते हैं। जहाँ आचरण की सभ्यता पाई जायगी वहाँ शिष्टाचार भी अवश्य मिलेगा। अतः हमारे यहाँ शिष्टाचार को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है और वह प्रत्येक वर्ग के लोगों में पाया जाता है। भाषा अथवा वाणी-सम्बन्धी शिष्टाचार के जो गुण होने चाहिए वे प्रत्येक भारतीय में विद्यमान हैं। हमें बाल्यावस्था से ही यह शिक्षा प्रदान की जाती है कि अपने बड़े, छोटे अथवा बराबर वाले के साथ वार्तालाप करते हुए किस प्रकार वाणी का प्रयोग करना चाहिए। हम अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के प्रति 'आप', 'जी', 'वे', 'श्रीमान्', मान्यवर', 'पूज्य', आदि आदर-सूचक शब्दों का ; छोटों के प्रति 'प्रिय', 'तुम', आदि शब्दों का ; अपरिचित व्यक्तियों के प्रति 'आप', 'महाशय', 'महोदय', आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार भारतीय अभिवादन प्रणाली के अनुसार गुरुजनों को 'प्रणाम', 'दण्डवत्', 'चरणस्पर्श', 'सादर नमस्कार'; समानता वालों को 'नमस्ते'; 'नमस्कार', छोटों को 'प्रसन्न रहो', 'आशीर्वाद', 'चिरायु हो'; अपरिचित व्यक्तियों को 'नमस्ते', कहा अथवा लिखा जाता है। आर्य शिष्टाचार के अनुसार अपने से उच्च स्थान वालों के प्रति विनय-पूर्ण भाषा का सदैव प्रयोग करना चाहिए। हमारे यहाँ प्रत्येक वर्ग के लोगों में इस शिष्टाचार सम्बन्धी नियम का पालन किया जाता है। उनके साथ वाद-प्रतिवाद करना या उनको उत्तर देना अनुचित समझा जाता है। किसी अपरिचित व्यक्ति का नाम पूछना

होता है तो कहा जाता है कि आपका शुभ नाम ? आदरणीय महानुभावों को आसन दिया जाता है तो कहा जाता है 'श्रीमान् विराजियेगा'।

शारीरिक चेष्टा सम्बन्धी शिष्टाचार भी हमारे यहाँ है। पूज्य व्यक्ति के पधारने पर हम उसके स्वागत के लिये अपना आसन छोड़ कर खड़े हो जाते हैं और उस समय तक खड़े रहते हैं जब तक वह अपने आसन पर नहीं विराजता है। आसन छोड़कर जाते समय भी इसी नियम का पालन होता है। इसके अतिरिक्त सम्मानार्थ उन्हें लिवाने के लिए कुछ बढ़कर आया जाता है और उन्हें पहुँचाने के लिए कुछ दूर तक उनके साथ चला जाता है। सभा या व्यक्ति-समूह में शिष्टाचार का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। सहभोजों में एक-साथ भोजन प्रारम्भ करना और एक-साथ समाप्त किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति खाना खा भी चुका हो तो भी वह अपने स्थान पर अन्य साथियों की प्रतीक्षा में बैठा रहता है। सभा में बैठकर कोई मनुष्य किसी प्रकार की कुचेष्टा नहीं कर सकता है। न वह अकेला हँस सकता है, न वह खाँस सकता है, न धूम्र-पान कर सकता है, न कोई अश्लील चेष्टा कर सकता है, न वह किसी साथी का दृष्टि-पथ रोक कर बैठ सकता है, न वह शोर मचा सकता है। यदि आवश्यकता हो तो वह हँसने, धूम्रपान करने अथवा मल-मूत्र विसर्जन के लिए उठकर बाहर जा सकता है। जब हम व्यक्ति-समुदाय में रहते हैं तब हमें अन्य लोगों की सुविधा, अधिकार और सुख-दुख का ध्यान रखना पड़ता है। हम कोई ऐसी चेष्टा नहीं कर सकते जो हमारे साथियों को अरुचिकर हो। हमें अपने निर्दिष्ट स्थान पर ही बैठना चाहिये और जोर-जोर से बात-चीत नहीं करनी चाहिए। भारतीय शिष्टाचार में बड़े अथवा छोटे के साथ हंसी-मजाक करना वर्जित है। गुरुजनों के सम्मुख बीड़ी-सिगरेट पीना या पान खाना भी बुरा समझा जाता है।

शिष्टाचार-सम्बन्धी इन गुणों के होते हुए भी भारतीयों में कुछ कमी है। गालियाँ बकना शिष्टाचार की दृष्टि से किसी प्रकार क्षम्य नहीं है। यह वाणी का एक असंयम है जो दूर होना चाहिए। मुख से अश्लील शब्दों का उच्चारण असभ्यता का द्योतक है। छोटों के प्रति 'तू' का प्रयोग भी प्रायः प्रचलित है।

'तू' के स्थान पर 'तुम' का प्रयोग करना चाहिए। शारीरिक चेष्टा-सम्बन्धी अशिष्टाचार भी हमारे यहाँ कुछ विद्यमान है। ग्रामीण समाज में उसका रूप अधिक दिखाई देता है। गाँव वाले मलमूत्र विसर्जन के लिए प्रायः सड़क और पगडंडी के निकट बैठ जाते हैं जिससे आने-जाने वालों को बड़ी असुविधा होती है और मार्ग से निकलने में संकोच होता है। आवश्यकता इस बात की है कि वे मार्ग से दूर ओट के स्थान को इस काम के लिए चुना करें। कुओं पर स्नान करना खटकता है। स्नान करते समय मनुष्य अर्द्ध-नग्न दशा में हो जाता है। अतएव कुंओं पर स्नान करने की प्रथा बन्द होनी चाहिये। यह काम भी ऐसे स्थान पर किया जाय जहाँ अन्य व्यक्ति की दृष्टि न पहुँचे। शिष्टाचार यह भी चाहता है कि हम जब और लोगों के सम्मुख उपस्थित हों तब यथोचित वस्त्र धारण किए हुए हों, एकान्त में चाहे नंगे ही क्यों न बैठे रहें।

सारांश यह है कि यद्यपि भारतीयों में शिष्टाचार-सम्बन्धी गुण विद्यमान हैं तथापि आजकल अशिक्षा के कारण कुछ दोष दिखाई देते हैं। यदि हमारा देश अशिक्षा के चंगुल से मुक्त हो जाय, यदि हमारे गृह और विद्यालय में शिष्टाचार को व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाय, तो कोई कारण नहीं है कि भारतीयों में शिष्टाचार सम्बन्धी कोई त्रुटि देखने को मिले। बालक बहुत कुछ बातें अनुकरण से ग्रहण करता है। अतएव गृह में माता-पिता और विद्यालय में अध्यापक को उचित शिष्टाचार का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

भारतीय राजनीति का आदर्श नेता
(महात्मा गाँधी)

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—गाँधीजी के आविर्भाव के समय की परिस्थितियाँ
(२) गाँधीजी की राजनीति के अङ्ग
(क) सत्य (ख) अहिंसा (ग) स्वराज्य (घ) सत्याग्रह (ङ) खादी (च) भेद-भाव का निराकरण (छ) धर्म और राजनीति का समन्वय।

(३) गांधीजी की राजनीति की आदर्शता
(४) उपसंहार—गांधीजी की राजनीति का विश्व पर प्रभाव और भविष्य

जब भारतवर्ष दासता की दृढ़ बेड़ियों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था, जब स्वतन्त्रता का कोई नाम भी नहीं जानता था, जब अँग्रेजी शासन ने देश का शोषण करके उसे जर्जरित कर दिया था, जब भारत-माता का कलेवर रक्तहीन होकर कंकाल मात्र रह गया था, जब उसकी संतान विदेशी संस्कृति एवं सभ्यता को अपनाती जा रही थी, जब उसके लाड़ले पुत्र-पुत्रियों को भर-पेट भोजन नहीं मिलता था, जब देश अशिक्षा-अंधकार में सोया हुआ था, जब जनता संतप्त थी, तब पीयूष-वर्षी मेघ की भांति भारतीयों के प्राण राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी भारत-भूमि पर अवतीर्ण हुए, जिन्होंने भारतीय राजनीति में युगान्तर उपस्थित किया और अपने राजनैतिक सिद्धान्तों को व्यवहार में लाकर शताब्दियों की पराधीनता का अन्त किया, शताब्दियों से बन्धन में जकड़ी हुई भारत-माता को मुक्त किया!

गाँधीजी की राजनीति के अङ्ग हैं—सत्य, अहिंसा, स्वराज्य, सत्याग्रह, खादी, भेद-भाव का निराकरण और धर्म तथा राजनीति का समन्वय। सत्य गाँधीजी के अनुसार एक दैवी गुण है। वह केवल शब्दों और कार्यों में ही प्रकट नहीं होना चाहिए, बल्कि अन्तरात्मा में भी उसका प्रकाश होना आवश्यक है। झूठ न बोलना ही सत्य-पालन के लिए पर्याप्त नहीं है, यद्यपि यह उसका एक आवश्यक अङ्ग अवश्य है। सत्य ही ईश्वर है। सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है। अतः सत्य की आराधना ईश्वर की आराधना है। मनुष्य मात्र को मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य की आराधना करनी चाहिए। मिथ्याचार से आत्मवंचना होती है और आत्मवंचना से मनुष्य पतित होता है। गाँधीजी सत्य के उपासक थे। उनका कोई भी राजनैतिक कार्य, उनकी कोई भी राजनैतिक योजना, सत्य से तिलभर परे न होती थी। उनका राजनैतिक जीवन खुला चिट्ठा था।

अहिंसा का साधारण अर्थ है, किसी जीव को कष्ट न देना। किन्तु गांधी जी के अनुसार उसका अर्थ इससे विस्तृत और व्यापक है। अहिंसा केवल आचरण

का स्थूल नियम नहीं है, बल्कि मन की एक वृत्ति है। जिस वृत्ति में द्वेष की कहीं गंध न हो उसे अहिंसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके अन्तर्गत दूसरों के साथ हित करना भी सम्मिलित है। यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ दुर्व्यवहार करता है तो उसके प्रति अपने हृदय में बुरी भावना न लाना ही अहिंसा नहीं है, वरन् अधिक से अधिक कष्ट उठाकर उसके हृदय पर आधिपत्य कर लेना भी अहिंसा है, जिससे वह हमारे साथ दुर्व्यवहार करना छोड़ दे। इस प्रकार अहिंसा के अन्तर्गत प्रेम-व्यवहार भी आ जाता है। गाँधीजी अहिंसा के पुजारी थे। उनकी राजनीति में शत्रु से भी प्रेम करना, शत्रु की कल्याण कामना करना, शत्रु की भी हित-साधना करना सम्मिलित है। उन्होंने प्रहारक के साथ भी प्रेम-व्यवहार करना सिखाया है। उनका उपदेश है—मर जाओ, पर मारो नहीं। उनके अनुयायियों ने असहयोग आन्दोलन में पुलिस की लाठियाँ सहीं, पर पुलिस पर प्रहार नहीं किया।

गाँधीजी स्वराज्य को प्रत्येक मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। उनकी दृष्टि में 'स्वराज्य' का अर्थ था 'राम-राज्य' अर्थात् धर्म का राज्य जिस पर सबका अधिकार है। उसमें एक ओर अगणित धन-संपत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक दारिद्र के लिए स्थान नहीं है। उसमें कोई भूखा नहीं मरेगा। उसका आधार पशु-बल न होकर नैतिक बल होगा। वह प्रेम और न्याय पर आधारित होगा। उसमें जनता स्वाधीनता और सुख के साथ जीवन व्यतीत करेगी। भारतवर्ष में इस प्रकार का शासन नहीं था। यहाँ अनेक व्यक्ति भूखे मरते थे। सर्वत्र गरीबों का उत्पीड़न हो रहा था। अतः गाँधीजी उसकी जड़ खोदने और स्वराज्य की प्राप्ति के प्रयत्न करने में संलग्न हुए।

इसके लिए उन्होंने सत्याग्रह का आश्रय ग्रहण किया। गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह अत्याचार तथा अन्याय के दमन का अमोघ अस्त्र है। इसका अर्थ है सत्य का आग्रह करते हुए अधर्म का विरोध करना। कैसा ही अधर्म, कैसा ही स्वार्थान्ध, कैसा ही क्रूर मनुष्य क्यों न हो, सत्याग्रह के समक्ष उसकी अधमता, स्वार्थान्धता और क्रूरता चूर-चूर हो जायगी। सत्याग्रह अहिंसात्मक तो होगा ही। हिंसा द्वारा सत्य का आग्रह कैसा? पशु बल द्वारा हृदय-परिवर्तन कैसा? युद्ध के इतिहास में सत्याग्रह नवीन युग का सूत्रपात करता है। राजनीति के

क्षेत्र में यह नवीन वस्तु है। गाँधीजी ने इस अमोघ अस्त्र द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में विजय प्राप्त की और विश्व को इसके चमत्कार से चकित कर दिया।

गाँधीजी की राजनीति में खादी का विशेष महत्व है। उनकी दृष्टि में खादी वह रसायन है जिसके सेवन से परतंत्र भारतमाता का जीर्ण-शीर्ण कलेवर पुनः पुष्टता प्राप्त करेगा। यह दरिद्रता के लिए रामवाण, आर्थिक पराधीनता के लिए तीक्ष्ण छैनी और बेकारी के लिए दुधारी तलवार है। यह आर्थिक शोषण का अन्त करने वाली विषवटी है यह भारतीय स्वाधीनता का प्रतीक है। हमारी गुलामी का दायित्व मशीनों द्वारा हमारे घरेलू उद्योग-धन्धों के गला घुटने पर है। मशीनों ने गरीबों का रक्त चूसा है और पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरी हैं। अतः भारतीय स्वतन्त्रता का मार्ग परिष्कृत करने के लिए गाँधीजी खादी के उपासक बने।

भेद-भाव का निराकरण गांधीजी की राजनीति का प्रधान अङ्ग है। छुआ-छूत तथा साम्प्रदायिकता से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। वे तो समाज के विविध अङ्गों में प्रेम और समानता का व्यवहार चाहते थे। भारतीय राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े करने वाले हिन्दू-मुस्लिम घृणा-द्वेषों का अन्त करने, हरिजनों की अस्पृश्यता का कलंक धोने और स्त्रियों को पुरुषों के बराबर धरातल पर लाने के लिए उन्होंने कुछ उठा न रक्खा। यहाँ तक कि हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की स्थापना के हेतु उन्होंने अपने प्राण बलिदान कर दिए।

गाँधीजी की राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता उसका धर्म के साथ समन्वय है। साधारणतः राजनीति धर्म से पृथक् ही नहीं, विरुद्ध समझी जाती है। वह कभी धर्म के साथ मिलकर नहीं चली है। पर गाँधीजी का जीवन तो धर्म की दृढ़ भित्ति पर खड़ा हुआ था। उनकी धार्मिक भावना ने ही उन्हें राजनीति की ओर प्रेरित किया था। राजनीति का धर्म से सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए उन्होंने लिखा है—

"राजनीति धर्म की सेविका है, धर्म रहित राजनीति मृत्यु का जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।" गाँधीजी ने आजन्म कोई ऐसा

राजनैतिक कदम नहीं उठाया जो धर्म के विरुद्ध होता । कूट-नीति से तो वे कोसों दूर थे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी की राजनीति आदर्श थी । उसके सिद्धान्त अत्यन्त श्रेष्ठ, उसकी नींव अत्यन्त पवित्र थी । उसकी साधना के समस्त मार्ग पुनीत, निर्मल एवं उच्च थे । वह प्रेम, सेवा, समानता, न्याय, सत्य और अहिंसा पर आधारित थी । उसमें हत्या, शोषण, उत्पीड़न तथा छल-छिद्र को कोई स्थान न था । वह आदि से अन्त तक धर्मप्राण थी ।

गाँधीजी की राजनीति ने विश्व के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों को चकित कर दिया है । वह उनके लिये एक पहेली बनी हुई है । उस पर चलना तो दूर की बात है, उसका समझना भी उनके लिये टेढ़ी खीर हो रहा है । भारतवर्ष में उसकी आशातीत सफलता के कारण विश्व उसकी ओर आकृष्ट है और उसको टकटकी लगाकर देख रहा है । उसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है । भारत को स्वतन्त्रता दिलवाकर उसने युद्ध-क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी है, इतिहास में युगान्तर उपस्थित कर दिया है । जहाँ अन्य देशों में स्वतन्त्रता के लिए भीषण नर-संहार हुआ, रक्त की नदियाँ प्रवाहित हुईं, रण-चंडी का तांडव नृत्य हुआ, महाकाल की ध्वंस लीला हुई, वहाँ हमारे देश में इनमें से कोई बात नहीं हुई । इसका श्रेय गाँधीजी की अनूठी राजनीति को है । आशा है गाँधीजी की राजनीति अपना उज्ज्वल आलोक विकीर्ण करके विश्व से पैशाचिकता का बहिष्कार करेगी और मानवता का संचार करेगी ।

———

'रामचरितमानस' की महत्ता

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—रामचरितमानस की रचना का उद्देश्य
(२) रामचरितमानस की महत्ता—
(क) साहित्यिक (ख) धार्मिक (ग) गार्हस्थ्य-सम्बन्धी (घ) सामाजिक (ङ) राजनैतिक
(३) उपसंहार—सारांश

"त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अक्षर उच्चरे ब्रह्म इत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख दैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामचरन में मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वाल्मीकि तुलसी भयो॥"

नाभादासजी के इस छप्पय से विदित है कि रामायण के रचयिता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि कलियुग के कुटिल जीवधारियों का उद्धार करने के लिए गोस्वामी तुलसीदास के रूप में अवतरित हुये। उन्होंने कलियुगी प्राणियों के उद्धार-हेतु अपने पुनीत संस्कृत-काव्य 'रामायण' की हिन्दी में 'रामचरितमानस' के रूप में अवतारणा करके राम-रसायन का प्रसाद घर-घर पहुँचाया। इस प्रकार जन-हित अथवा लोक-हित 'रामचरितमानस' की रचना का उद्देश्य ठहरता है। किन्तु गोस्वामीजी का कथन है—

"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।"

अर्थात् उन्होंने अपने अन्तःकरण के सुख लिए 'रामचरितमानस' की रचना की।। साधारण दृष्टि से दोनों उद्देश्यों में विरोध-सा प्रतीत होता है। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दोनों में कोई विरोध नहीं है। गोस्वामीजी के अंतःकरण को सुख तभी मिल सकता था जब उनके द्वारा जन-हित होता, जब उनकी लेखनी द्वारा पापियों का उद्धार होता, जब उनकी रचनाओं द्वारा आर्य-धर्म की रक्षा होती। उनका जन्म लोक-हित-साधना के लिए हुआ था। उनका जीवन 'सर्वभूत हिते रतः' था। अतः स्पष्ट है कि उनकी लेखनी ने लोक-हित द्वारा अपने अन्तःकरण के सुख के लिए 'रामचरितमानस' की रचना की। रामचन्द्रजी के आदर्श एवं मर्यादित गाथा में लोक-हित तथा व्यक्तिगत साधना दोनों के लिये पर्याप्त सामग्री थी।

'रामचरितमानस' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह आर्य-धर्म की प्रज्वलित दीपशिखा है, भक्ति की निर्मल सुरसरि है, गार्हस्थ्य जीवन की पथ-प्रदर्शिका है,

समाज और राजनीति-शास्त्र की टिप्पणी है, काव्य की देदीप्यमान मणि है। इसकी साहित्यिक महत्ता की समानता अन्य कोई रचना नहीं कर सकती। इसमें मानव-हृदय के विविध भावों की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है, रामचन्द्रजी की कथा के मार्मिक स्थलों के अत्यन्त हृदयग्राही चित्र उपस्थित किए गए हैं। स्वयंवर-सभा में जनकजी के वचन पर लक्ष्मणजी का क्रोध देखिए—

"माखे लखन कुटिल भइँ भौंहें।
रदपुट फरकत नयन रिसौंहें॥"

क्रोध की कैसी सजीव व्यंजना है! जनकपुर की वाटिका में रामचद्रजी का दर्शन करने पर सीताजी की प्रेम-मुग्धता देखिये—

"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छवि देखें। पलकन्हि हूँ परिहरी निमेषें॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

प्रेम की दशा का कैसा सुन्दर चित्र है? लज्जा, मर्यादा और चातुर्य-युक्त सीताजी की यह हाव-भावपूर्ण क्रिया देखिए—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निजपति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥

इस प्रकार भावों का एक से एक सुन्दर चित्र 'रामचरित-मानस' में मिलता है। इस काव्य में वाह्य दृश्यों का भी भव्य चित्रण हुआ है। इसमें भिन्न-भिन्न व्यापारों में संलग्न व्यक्तियों की चेष्टाओं तथा मुद्राओं के बड़े स्वाभाविक और प्राकृतिक दृश्यों के बड़े सजीव चित्र उतरे हैं। चित्रकूट का यह दृश्य देखिए—

"लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिस फिरेउ धनुष जिम नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूटजनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥"

बालक राम की यह चेष्टा देखिए—

"भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकात मुख दधि ओदन लपटाइ॥"

कविता के वाह्यांग अर्थात् उक्ति का अनूठापन, अलंकार और भाषा का सुन्दर रूप भी 'रामचरितमानस' में मिलते हैं। जनकपुर की वाटिका में सखियों की परिहासात्मक उक्तियों में, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद तथा रावण-अंगद-संवाद में उक्ति वैचित्र्य के खूब दर्शन होते हैं। अलंकारों की छटा तो सर्वत्र है। भाषा अवधी प्रयुक्त हुई है जो भावानुकूल, परिष्कृत एवं प्रौढ़ है।

'रामचरितमानस' प्रबन्ध-काव्य है। गोस्वामीजी की प्रबन्ध-पटुता इसमें पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। इसमें राम-कथा आदि से अन्त तक अबांध गति से प्रवाहित हुई है और भिन्न-भिन्न घटनाएँ शृङ्खला की कड़ियों की भाँति एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। कहीं भी कथा-शैथिल्य नहीं आने पाया है। सफल चरित्र-चित्रण एवं संवाद भी प्रबन्ध-पटुता के अंग होते हैं। 'रामचरितमानस' में राम, भरत, सीता लक्ष्मण, हनुमान, दशरथ, रावण, कैकेयी, कौशल्या, मन्दोदरी आदि पात्र-पात्रियों के बड़े भव्य चित्र अंकित हुए हैं। लक्ष्मण-परशुराम संवाद तथा अंगद-रावण-संवाद-कुशलता के सुन्दर नमूने हैं।

धार्मिक दृष्टिकोण से भी 'रामचरितमानस' की महत्ता है। इस ग्रन्थ की रचना से पूर्व आर्य-धर्म का वास्तविक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था। सर्वत्र दम्भ और आडम्बर का बोलबाला था। शैव, वैष्णव और शाक्त आपस में खूब लड़ते-झगड़ते थे। ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख बढ़ रहे थे। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारिनर कहहिं न दूसरि बात'। ऐसे व्यक्तियों ने भक्ति का स्थान गिरा दिया था। 'रामचरितमानस' में आर्य-धर्म का ऐसा चलता हुआ सामान्य रूप रक्खा गया है जिसकी ओर जनता स्वतः आकृष्ट होती है। धर्म का सम्बन्ध हृदय से जोड़कर उसका मार्ग आनन्दमय बना दिया गया है जिससे लोग आपसे-आप उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। इसमें रामभक्ति की सुधा-धारा प्रवाहित हो रही है। यह रामभक्ति केवल ज्ञान और कर्म के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं करती; बल्कि भिन्न-भिन्न देवताओं का भी आदर करती है। उससे शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, कर्मठों और ज्ञानियों के झगड़े शान्त होते हैं। उसमें उदारता है, संकीर्णता नहीं।

'शिव द्रोही मम दास कहावै।
सो नर मोहि सपनेहुँ न भावै॥"

राम की इस उक्ति से शिवजी की प्रतिष्ठा प्रदर्शित है। उसमें मर्यादा का विशेष स्थान है। काकभुशुण्डि को दिया गया शिवजी का श्राप इसका एक उदाहरण है। राम-भक्ति का घर-घर में प्रचार है। प्रत्येक हिन्दू की जिह्वा पर राम-नाम नाचता है। सम्पत्ति में, विपत्ति में, घर में, बाहर, जहाँ देखिए वहीं राम-नाम है। यहाँ तक कि हमारी अभिवादन-प्रणाली में भी उसका स्थान है। उसने न जाने कितनों का उद्धार किया है, न जाने कितनों को नवजीवन प्रदान किया है न जाने कितनों का सुधार किया है, न जाने कितनों को कुमार्ग से हटाया है न जाने कितनों का बेड़ा भव-सागर से पार किया हैं।

'रामचरितमानस' गार्हस्थ्य-जीवन का पथ-प्रदर्शक ग्रन्थ है। इसमें गार्हस्थ्य जीवन का मर्यादा-समन्वित आदर्श रूप अंकित हुआ है।

माता-पिता के प्रति पुत्र-पुत्री का और पुत्र-पुत्री के प्रति माता-पिता का, पति के प्रति पत्नी का और पत्नी के प्रति पति का, सास के प्रति बहू का और बहू के प्रति सास का, गुरु के प्रति शिष्य का और शिष्य के प्रति गुरु का, स्वामी के प्रति दास का और दास के प्रति स्वामी का, भाई के प्रति भाई का, मित्र के प्रति मित्र का तथा सखी के प्रति सखी का पारस्परिक व्यवहार इस पुनीत ग्रन्थ में नैतिकता के उज्ज्वल आधार पर प्रतिपादित हुआ है। गृहस्थों को पग-पग पर इस महत्वपूर्ण रचना से सदुपदेश मिलते हैं। विषम से विषम परिस्थिति में उन्हें इससे सहायता मिलती है। घोर से घोर अंधकार के समय उन्हें इससे प्रकाश मिलता है। यह ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है जिससे सम्पूर्ण गृहस्थ-जीवन आलोकित हो रहा है।

'रामचरितमानस' में समाज की व्यवस्था वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर हुई है। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा ही गोस्वामीजी की समाज-व्यवस्था है। उसका उल्लंघन उन्हें असहनीय था। वे चाहते थे कि ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों के व्यक्ति अपना-अपना स्वाभाविक कर्म करें, कोई किसी के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। 'बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि'—में व्यक्त मनोवृत्ति को वे समाज के लिये घातक समझते थे। 'राम-चरितमानस' में स्थान-स्थान पर इसका प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारों आश्रमों का विधान भी 'रामचरितमानस' में है। वह नारी-जाति को पुरुष-जाति की अधीनता में रहकर गृहस्थी का काम-काज संभालने की और शूद्रों को अन्य वर्णों की सेवा-सुश्रूषा करने की शिक्षा देता है। उसके अनुसार समाज की रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि समाज में बड़ों की प्रतिष्ठा हो, विद्वानों का सम्मान हो, वीरों के प्रति श्रद्धा हो, अत्याचारों का दमन हो, न्याय का आदर हो, पारस्परिक एकता हो।

'रामचरितमानस' का राजनैतिक दृष्टि से भी महत्व है। किस प्रकार का व्यवहार राजा का प्रजा के प्रति और प्रजा का राजा के प्रति हो, किस प्रकार की शासन-व्यवस्था हो, किस प्रकार राजा प्रजा की रक्षा तथा सुख-समृद्धि का प्रबन्ध करे, किस प्रकार वीतराग महात्माओं का शासक पर नियन्त्रण रहे, किस प्रकार प्रजा की सम्मति से राज-काज हो, किस प्रकार लोकमत का आदर हो, इन सब बातों की विवेचना 'रामचरितमानस' में सम्यक् प्रकार से हुई है। उसका आदर्श है राम-राज्य जिसमें प्रजा पूर्णतः सुखी थी। न कोई भूखा था, न कोई नंगा। न कोई शोषित था, न कोई पददलित। न किसी के साथ अत्याचार होता था, न अन्याय। कोई भी दंडित नहीं होता था। सब प्रेमपूर्वक हिल-मिल कर रहते थे।

सारांश यह है कि 'रामचरितमानस' एक अमूल्य रत्न है। वह आर्य-सभ्यता, आर्य-संस्कृति, आर्य-धर्म का कोश है। उसने विकट परिस्थितियों में डगमगाती हुई हिन्दू-जाति की रक्षा की। सच पूछिए तो हिन्दुओं में नवजीवन का संचार करने वाला तथा उन्हें नीति एवं मर्यादा का पाठ पढ़ाने वाला हिन्दी-साहित्य में यदि कोई ग्रन्थ है तो वह 'रामचरितमानस' है। यह उसी का प्रभाव है कि प्रत्येक हिन्दू उसके महत्त्व पर श्रद्धा करता है, सदाचार की ओर उन्मुख होता है, पूज्य-जनों को मस्तक झुकाता है, विपत्ति में धैर्य रखता है, रामभक्ति का अनुसरण करता है। धन्य है 'रामचरितमानस' और धन्य है उसके प्रणेता भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास। बेनी कवि ने ठीक ही कहा है—

"वेदमत सोधि, सोधि-सोधि कै पुरान सबै
संत औ असंतन के भेद को बतावतो।

कपटी कुराही कूर कलि के कुचाली जीव
कौन रामनामहू की चरचा चलावतो ॥
'बेनी' कवि कहै मानो मानो हो प्रतीति यह
पाहन-हिये में कौन प्रेम उपजावतो ।
भारी भवसागर उतारतो कवन पार
जो पै यह रामायन तुलसी न गावतो ॥"

उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा का पुनर्सङ्गठन

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—पुनर्सङ्गठन की आवश्यकता और सरकार का प्रयत्न
(२) माध्यमिक पाठशालाओं के रूप
(३) हिन्दुस्तानी तथा एंग्लो-हिन्दुस्तानी पाठशालाओं के अन्तर का निराकरण
(४) शिक्षा-काल में एक वर्ष की कमी
(५) शिक्षा का माध्यम—मातृभाषा
(६) अंग्रेजी का स्थान
(७) हिन्दी का स्थान
(८) पूरक व्यावसायिक पाठशालाओं की स्थापना
(९) स्त्री-शिक्षा का रूप
(१०) उपसंहार—इस पुनर्सङ्गठन से लाभ

हमारे देश में चिर काल के पुनर्संङ्गठन की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी । केन्द्र तथा प्रान्तों में जनप्रिय सरकारों की स्थापना हो जाने पर शिक्षा के पुनर्सङ्गठन का प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आया । उत्तरप्रदेशीय सरकार ने सन् १९३८ में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९३९ में दे दी । सरकार ने इस रिपोर्ट का प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी अंश तभी स्वीकार कर लिया; किन्तु उसी वर्ष मंत्रिमंडल के पद-परित्याग करने के कारण रिपोर्ट के माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी अंश पर विचार न हो सका । अब पुनः जनप्रिय सरकार स्थापित हो जाने पर उत्तर

प्रदेशीय सरकार ने इस कार्य को सम्पादित किया है और भली-भाँति विचार करने के पश्चात् रिपोर्ट के मुख्य सुझावों को स्वीकार एवं कार्यान्वित किया है।

पुनर्सङ्गठन के अनुसार माध्यमिक शिक्षा के दो अंग हो गए हैं—(१) जूनियर सेकिण्डरी (लघुतर माध्यमिक) और सीनियर सेकिण्डरी (उच्चतर माध्यमिक)। पहले अंग में कक्षा ६ से ८ तक सम्मिलित हैं और दूसरे में कक्षा ९ से १२ तक। कक्षा ८, १० और १२ के अन्त में वैभागिक परीक्षाएँ होती हैं। कक्षा ६ से ८ तक की पाठशालाएँ जूनियर हाई स्कूल और ९ से १२ तक की पाठशालाएँ हाइयर सेकिंडरी स्कूल कहलाती हैं। पहली के प्रधानाध्यापक हैडमास्टर कहलाते हैं तथा दूसरी के प्रिंसिपल। हाइयर सेकिंडरी स्कूल चार प्रकार के हैं—(१) साहित्यिक, (२) वैज्ञानिक, (३) रचनात्मक और (४) कलात्मक। इन सभी में स्वास्थ्य-निर्माण अनिवार्य विषय है।

कब तक हमारे प्रान्त में हिन्दुस्तानी और एंग्लो-हिन्दुस्तानी नामक दो प्रकार की पाठशालाएँ प्रचलित थीं। इन दोनों प्रकार की पाठशालाओं के स्तरों में बहुत अन्तर था, क्योंकि दोनों प्रकार की पाठशालाओं के पाठ्यक्रम विभिन्न थे। इस भेद को बिल्कुल मिटा दिया गया है। अब तक हिन्दुस्तानी स्कूलों से निकलकर विद्यार्थी एंग्लो-हिन्दुस्तानी स्कूलों की ऊपर की कक्षाओं में प्रविष्ट नहीं हो पाते थे। उदाहरण-स्वरूप हिन्दुस्तानी स्कूल की कक्षा ७ उत्तीर्ण करके कोई विद्यार्थी एंग्लो-हिन्दुस्तानी स्कूल की कक्षा ८ में प्रविष्ट नहीं किया जाता था। इससे ग्रामीण लड़के-लड़कियों की शिक्षा में बड़ी बाधा उपस्थित होती थी। अब इस भेद के निराकरण से क्या नगर, क्या ग्राम, सभी स्थानों के निवासियों को शिक्षा की समान सुविधाएँ उपलब्ध हो गईं। अब हिन्दुस्तानी और एंग्लो-हिन्दुस्तानी का भी पचड़ा नहीं रहा है।

शिक्षा-काल में एक वर्ष की कमी कर दी गई है। अब तक कक्षा १२ तक की शिक्षा प्राप्त करने में १३ वर्ष प्रतीत करने पड़ते थे। अब बाल-कक्षा का नाम कक्षा १ और इसी प्रकार प्रत्येक कक्षा का नाम उससे ऊपर की कक्षा रखकर एक वर्ष की बचत की गई है। अर्थात् कक्षा १२ तक की शिक्षा अब १२ वर्षों में ही समाप्त हो जाया करेगी।

मातृभाषा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है। अब तक विदेशी भाषा अँग्रेजी द्वारा शिक्षा-प्रदान से ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञान-प्रसार में पर्याप्त रुकावट होती थी। विद्यार्थी को किसी विषय का अध्ययन करते समय पहले विदेशी भाषा की गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती थीं, तब कहीं उसकी भाव से भेंट होती थी। मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम बना देने से ज्ञान का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुल गया है। अब हमारे प्रान्त का प्रत्येक व्यक्ति भगवती वीणापाणि के प्रसाद का पात्र हो सकेगा और प्रान्त अशिक्षा के अभिशाप से मुक्त हो जायगा।

अँग्रेजी भाषा को प्राथमिक (Primary) शिक्षा में बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया है। अर्थात् कक्षा १ से ५ तक अँग्रेजी का अध्ययन नहीं कराया जायगा। अब तक एंग्लो-हिन्दुस्तानी पाठशालाओं में आरम्भ से ही बालकों को अनिवार्य रूप में अँग्रेजी का अध्ययन कराया जाता था। यह किसी प्रकार भी उचित नहीं प्रतीत होता कि प्राइमरी कक्षाओं के बालकों को विदेशी भाषा सीखने के लिए बाध्य किया जाय, छोटी आयु में उनके ऊपर विदेशी भाषा का व्यर्थ बोझ लादा जाय। लघुतर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में अँग्रेजी ऐच्छिक विषय के रूप में स्वीकार की गई है। आगे चलकर उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के साहित्यिक एवं वैज्ञानिक स्कूलों में उसका अध्ययन अनिवार्य होगा और रचनात्मक एवं कलात्मक स्कूलों में ऐच्छिक।

प्रान्त की मातृभाषा हिन्दी को प्राथमिक तथा लघुतर एवं उच्चतर माध्यमिक स्कूलों के लिए अनिवार्य विषय बना दिया गया है। अब तक यह व्यवस्था नहीं थी। फलतः हमारी शिक्षा-पद्धति से भारतीय संस्कृति और सभ्यता को बहुत धक्का लगा। जब हमारे बालक आदि से अन्त तक हिन्दी का अध्ययन करेंगे तब क्यों न उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के भाव जड़ पकड़ेंगे क्यों न वे भारतीय गौरव, भारतीय आदर्श, भारतीय रहन-सहन, भारतीय रीति-नीति, भारतीय आचार-विचार के भक्त होंगे।

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में उन विद्यार्थियों के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी जिन्हें बीच में ही किसी कारण-वश शिक्षा समाप्त कर देनी पड़ती थी। वस्तुतः

हमें अपना सुधार करना चाहिए, तत्पश्चात् औरों का। 'पर उपदेश' से कोई लाभ नहीं हो सकता। हम नित्य देखते हैं कि नागरिक जीवन की रक्षा के लिए जो नियम बने हुए हैं उन्हें किस प्रकार तोड़ा जाता है, पर हम पर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ ; यह नित्य की बात है कि अंधकारमय सड़क पर प्रकाशहीन साइकिलें दौड़ती हैं जिनसे दुर्घटना होना अवश्यम्भावी है। परन्तु हम इसका निवारण करने के लिए प्रयत्न नहीं करते। नित्य मोटर लारियाँ निर्धारित संख्या से दुगनी-तिगुनी सवारियाँ बैठाकर इधर-उधर भागती फिरती हैं और कभी-कभी मोटर की छतों पर भी सवारियाँ बैठाई जाती हैं। हम यह सब अपनी आँखों से देखते हैं कि किस प्रकार मनुष्यों को पशुओं के समान ठूँस-ठूँस कर भर दिया जाता है, किस प्रकार उन्हें प्राकृतिक शुद्ध वायु से वंचित किया जाता है, किन्तु चुप रहते हैं। क्या यह हमारी तटस्थता का प्रतीक नहीं हैं ? टिकट-घर की खिड़की का दृश्य तो देखते ही बनता है। टिकट लेने के लिए यात्री खूब धक्कामुक्की और तू-तू मैं-मैं करते हैं। अपनी बारी की कोई प्रतीक्षा नहीं करता। सब यही चाहते हैं कि सर्वप्रथम टिकट ले लें। अपने अन्य भाइयों की सुविधा-असुविधा का किसे ध्यान है ? रेल के डिब्बों में भले ही हमारे कुछ भाइयों के लिए बैठने तक के निमित्त स्थान न हो, पर हम तो पैर फैलाकर सोना पसन्द करते हैं। यह है हमारी भावना। हम देखते हैं कि अधिकारी-गण नियम-विरुद्ध व्यवहार करते हैं, उत्कोच लेते हैं, अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, पर उनके विरुद्ध हम एक शब्द भी नहीं कहते। क्या स्वतन्त्र भारत के नागरिकों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है ?

हम नागरिक वस्तुओं का निरादर करते हैं, आदर करना तो दूर की बात है। नागरिक भावना के अभाव के कारण उनके प्रति हमारे हृदय में कोई अच्छा भाव नहीं होता। हम उन्हें अपनी वस्तुएँ नहीं समझते। अतः उन्हें प्यार नहीं करते। यदि यह कहा जाय कि घृणा करते हैं तो अत्युक्ति न होगी। सड़क को गन्दा करने में हम संकोच नहीं करते, तनिक भी हमारा मन मैला नहीं होता। कुछ लोग तो उस पर मल-मूत्र तक विसर्जन कर देते हैं। यह है हमारी नागरिकता ! यह है हमारी सभ्यता ! हम अपने गृह को स्वच्छ रखना चाहते हैं,

क्योंकि वह अपना है। उसका सारा कूड़ा-करकट सड़क पर फेंक देते हैं, क्योंकि वह अपनी नहीं है। यह है हमारी मनोवृत्ति। दूसरी ओर अँग्रेजों की मनोवृत्ति देखिये। वे नागरिक वस्तुओं का कितना आदर करते हैं! उनमें नागरिक भावना कितनी बढ़ी-चढ़ी है! इङ्गलैंड में एक विद्यार्थी विद्यालय की छुट्टी होने पर एक सड़क से अपने घर जा रहा था। सड़क के एक स्थान पर उसे कुछ गंदगी दृष्टिगोचर हुई। उसने अपनी पाठ्य-सामग्री को सड़क के एक किनारे पर रख दिया और उस गंदगी को दूर करने में संलग्न हो गया। तत्पश्चात् अपनी पाठ्य-सामग्री लेकर आगे बढ़ा। एक भारतीय ने, जो यह दृश्य देख रहा था, उस बालक से पूछा—"क्या तुम्हारे यहाँ सड़कों को स्वच्छ रखने के लिये भंगी नियुक्त नहीं है, जो तुम यह कार्य अपने हाथ से करते हो? बालक ने उत्तर दिया—"हैं, अवश्य; पर भंगी चौबीस घंटे सड़कों को स्वच्छ नहीं रख सकते हैं। वे निर्धारित समय पर सड़कों की सफाई करते हैं। उनकी अनुपस्थिति में सड़कों को स्वच्छ रखने का भार हम नागरिकों पर है। सड़कें हमारी हैं। हम उनको स्वच्छ और सुन्दर रखना चाहते हैं। उनकी गंदगी दूर करने में हमें आनन्द आता है, हम अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं।" यह है अँग्रेजों की भावना। जहाँ हम सड़कों को गंदा करने में हर्षित होते हैं, वहाँ वे सड़कों को स्वच्छ रखने में गौरवान्वित तथा आनन्दित होते हैं। जहाँ हम नागरिक वस्तुओं का तनिक भी आदर नहीं करते, वहाँ वे उन पर सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहते हैं।

हमें नागरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से विराग है। हम उनकी पूर्ति के हेतु कुछ उद्योग नहीं करते। सड़क, चिकित्सालय, पाठशाला, डाकघर, सहयोगी-भंडार आदि की स्थापना के लिए हममें से अनेक कुछ भी सहायता प्रदान नहीं करते, आर्थिक सहायता प्रदान करना तो दूर की बात है। मान लीजिए, सिंचाई के लिए एक नहर की आवश्यकता है। अधिकारियों के कानों तक यह बात कौन पहुँचाए? पत्र-पत्रिकाओं में इसके लिए कौन आन्दोलन करे?

यही दशा नागरिक उन्नति में सहयोग-सम्बन्धी है। अपने राष्ट्र को ऊँचा उठाने के लिए, अपने नगर की दशा सुधारने के लिए हममें से कितने व्यक्ति सेवा का बाना धारण करने में तत्पर हैं? थोड़े से। अधिकांश तो अपने स्वार्थ

में लिप्त रहते हैं। वे सर्वदा अपनी समृद्धि के दाँव-पेच सोचते रहते हैं। उन्हें क्या पड़ी है जो नागरिक उन्नति के लिए सहयोग प्रदान करें ?

निजी स्वार्थ पर हमारे कुछ भाई तो इतने अंधे हो गये हैं कि उन्हें कर्त्तव्या-कर्त्तव्य नहीं सूझता और वे नागरिक हितों का गला घोंटने में भी नहीं हिच-किचाते। यह बहुत बुरी बात है। यदि वे नागरिक हितों की रक्षा करने में असमर्थ अथवा विवश हैं तो विशेष आपत्ति की बात नहीं। पर यदि वे नागरिक हितों को स्वयं पददलित करते हैं तो इससे बुरी बात और क्या हो सकती है ? मनुष्यता इसी में है कि हम अपने भाइयों के हितार्थ अपने स्वार्थ का बलिदान करें, समाज की हित-साधना में निजी स्वार्थ का परित्याग कर दें। कहा भी है—"वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे" किन्तु प्रलोभन बुरी वस्तु है। उसके वशीभूत होकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य-पथ से च्युत हो जाता है। उदाहरण के लिए; पुलिस का एक सब-इंस्पेक्टर निर्धारित संख्या से अधिक सवारियाँ ले जाती हुई मोटर लॉरी को पकड़ता है और उसका चालान करने के लिए उद्यत हो जाता है। लॉरी का स्वामी सब-इंस्पेक्टर के हाथ पर पाँच-पाँच के पाँच नोट रखता है। नोटों का स्पर्श करते ही सब इंस्पेक्टर अपने कर्त्तव्य से विच-लित हो जाता है और लॉरी को छोड़ देता है। ऐसा करते समय नागरिक-हित का उसे विस्मरण हो जाता है और यात्रियों के कष्ट की ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं जाता।

नागरिक भावना के अभाव से भारतवर्ष को बहुत हानि हो रही है। भारतीय उन्नति के मार्ग में यह एक कंटक के समान है। जब तक इसका निराकरण नहीं होगा तब तक हमारा राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकेगा, तब तक हमारा देश फलेगा-फूलेगा नहीं। विश्व में आज जिन राष्ट्रों की तूती बोल रही हैं वहाँ के नागरिक नागरिक भावना से ओत-प्रोत हैं। विषम से विषम परिस्थिति में उनकी यह भावना अक्षुण्ण रहती है। स्वार्थान्धकार कभी उसके प्रकाश को नष्ट नहीं कर सकता। वहाँ व्यक्ति समाज के लिए है, समाज व्यक्ति के लिए नहीं।

सारांश यह है कि नागरिक भावना का होना राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपादेय है। प्रत्येक भारतीय को उसकी उपलब्धि की चेष्टा करनी चाहिए। उसकी

प्राप्ति से हमारी बहुत-सी समस्याएँ हल हो जायेंगी और हमारे जीवन में 'शिवं' एवं 'सुन्दरम्' का समावेश होगा।

स्वतन्त्र भारत में हिन्दी का स्थान

रूप-रेखा —

(१) प्रस्तावना—परतन्त्र भारत में हिन्दी के साथ अन्याय
(२) स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर अन्याय के निराकरण का उद्योग
(३) स्वतन्त्र भारत में हिन्दी का स्थान
    (क) हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में—
        (१) राजकाज में
        (२) पाठ्य-विषय के रूप में
        (३) शिक्षा के माध्यम के रूप में
    (ख) अन्य प्रान्तों में
(४) कठिनाइयाँ और उनको हल करने के प्रयत्न
(५) उपसंहार—स्वतन्त्र भारत में हिन्दी का भविष्य

हिन्दी यद्यपि अधिकांश भारतीय जन-समाज की भाषा थी, उसका विस्तार किसी एक प्रान्त अथवा स्थान की सीमा के भीतर वद्ध नहीं था, समस्त भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक उसका थोड़ा-बहुत आधिपत्य जमा हुआ था और उसके द्वारा एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियों के समक्ष अपने भावों एवं विचारों को प्रगट कर लेते थे, तथापि परतन्त्र भारत में उसका कोई आदर नहीं था। न उसे राज-काज में कोई स्थान प्राप्त था और न शिक्षा-पद्धति में। राज-मुद्रा पर भी उसको स्थान नहीं दिया गया था। उत्तर प्रदेश में भी जो उसका प्रधान क्षेत्र है, शासन-कार्य में उसका व्यवहार नहीं होता था। यहाँ न वह शिक्षा का माध्यम थी और न पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय। उसका स्थान विदेशी भाषा अँग्रेजी ने हड़प रक्खा था।

देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर राष्ट्र-हितैषियों का ध्यान इस अन्याय की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने देखा कि राष्ट्र-संगठन एवं राष्ट्र-निर्माण के कार्य में अधिक बाधा इसलिये पड़ती है कि हिन्दी अपने उचित स्थान से वंचित

व्यवस्था की जायगी ? इस सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वानों में मतभेद है। कुछ का मत है कि संस्कृत भाषा के आधार पर नवीन शब्द गढ़ लिए जायँ। कुछ का मत है कि अँग्रेजी अथवा अन्य भाषा के प्रचलित शब्द अपना लिए जायँ। पहला मत अव्यावहारिक प्रतीत होता है। जिन शब्दों से जन-साधारण सुपरिचित है, चाहे वे अन्य भाषाओं के ही क्यों न हों, उनके स्थान पर नये शब्द गढ़कर प्रचलित करना टेढ़ी खीर है। नये शब्दों को कोई क्यों ग्रहण करेगा ? ऐसा करने की किसी को क्या आवश्यकता पड़ेगी ? इसके अतिरिक्त इस प्रकार का प्रयत्न हिन्दी भाषा में अस्वाभाविकता का समावेश करेगा, इसके स्वच्छन्द प्रवाह में बाधक सिद्ध होगा। वही भाषा चिरकाल तक जीवित रह सकेगी जिसकी पाचन-शक्ति अच्छी हो, जो अन्य भाषाओं के शब्दों को अपना ले, और उन्हें अपने व्याकरण से अनुशासित करे। जैसे गंगाजी में मिलकर अन्य नदियों एवं नालों का जल भी गंगाजल हो जाता है, वैसे ही हिन्दी में आकर अन्य भाषाओं के शब्द हिन्दी के हो जायँ, उनमें विदेशीपन न रहे। एक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट करना उचित होगा। 'स्टेशन' शब्द को ही ले लीजिए। यह शब्द अँग्रेजी भाषा का है। इसके लिए हिन्दी शब्द 'विराम-स्थल' गढ़ना कहाँ तक उचित होगा ? न तो यह गढ़ा हुआ शब्द 'स्टेशन' शब्द के भाव को ठीक-ठीक व्यक्त कर सकेगा और न इसको जन-साधारण स्वीकार करेगा। क्यों न 'स्टेशन' शब्द को ही हिन्दी भाषा में ग्रहण कर लिया जाय ? हाँ, यह आवश्यक है कि इसका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के नियमानुसार हो, अँग्रेजी व्याकरण के नियमानुसार नहीं। हम इसे बहुवचन में 'स्टेशनों' कहें न कि 'स्टेशन्स' तब यह शब्द हिन्दी का हो जायगा।

राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी की अन्य आवश्यकता विविध विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की है। हिन्दी में जब तक समस्त पाठ्य विषयों पर उच्च कोटि का पर्याप्त साहित्य न होगा तब तक इसके माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा की व्यवस्था न हो सकेगी और न इसका समुचित प्रसार ही हो सकेगा। आज हिंदी में विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य नहीं के बराबर है। डाक्टरी, इंजीनियरी, टैकनोलौजी (Technology) आदि पर कोई पुस्तक नहीं है। फिर कैसे इन विषयों का ज्ञान हिन्दी द्वारा कराया जाय ? हमारी राष्ट्रभाषा के विकास एवं

उत्थान के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अँग्रेजी जैसी उन्नतिशील भाषा की भाँति इसमें भी विविध विषयों पर उत्तम साहित्य का सृजन किया जाय।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की अन्य आवश्यकता लिपि-सम्बन्धी है। यद्यपि इसकी देवनागरी लिपि सरल एवं वैज्ञानिक है और ध्वनि की दृष्टि से भी दोष-रहित है, तथापि यह आज के युग की देन, टाइपराइटर के सर्वथा अनुकूल नहीं है। इसमें निम्नांकित दोष हैं—

१—संयुक्ताक्षर टाइप करने में कठिनाई होती है।

२—अर्द्ध-अक्षरों तथा मात्राओं के रूपों के कारण टाइपराइटर की अक्षरावली बढ़ गई है :

इस सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं—

१—टाइपराइटर में अर्द्ध-अक्षरों को स्थान न दिया जाय। संयुक्ताक्षर टाइप करते समय मिलने वाले अक्षर को हलन्त कर दिया जाय। जैसे—'द्य' को 'द्‌य' लिखा जाय। ऐसा करने से अक्षरों की संख्या कम होगी और संयुक्ताक्षर टाइप करने की कठिनाई भी दूर हो जायगी।

२—'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ए', 'ऐ', और 'ऋ' को क्रमशः 'अि', 'अी', 'अु', 'अू', 'अे', 'अै', और 'अृ' लिखा जाय। ऐसा करने से टाइपराइटर में ७ अक्षरों की कमी हो जायगी, क्योंकि 'अ' पर ि, ी, ु, ू, े, ै और ृ मात्राएँ लगाने से ही काम चल जायगा।

३—'क्ष', 'त्र' और 'ज्ञ' को टाइपराइटर में स्थान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये संयुक्ताक्षर इस प्रकार लिखे जा सकते हैं—क्ष=क्‌ष। त्र=त्‌र। ज्ञ=ज्‌ञ।

४—'ङ' को भी टाइपराइटर में स्थान देना अनावश्यक है, क्योंकि इस वर्ण का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता, केवल संयुक्त रूप में होता है और यह कार्य अनुस्वार से चल सकता है। जैसे—'गङ्गा' को 'गंगा' लिखा जा सकता है।

इस प्रकार के परिवर्तनों से टाइप करने की कठिनाइयों का हल निकाला जा सकता है और टाइपराइटर के लिए सर्वमान्य अक्षरावली तैयार की जा सकती है।

राष्ट्रभाषा की दृष्टि से अन्य भाषा-भाषी लोगों के लिए भी हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम दो भाषाएँ—(१) मातृभाषा तथा (२) राष्ट्रभाषा जाननी चाहिएँ। तभी राष्ट्र के कार्य सुचारुता-पूर्वक सम्पन्न हो सकेंगे। अतः यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक प्रदेश में मातृ-भाषा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा की शिक्षा भी अनिवार्य कर दी जाय, जिससे वहां के बालक शिक्षित होकर जब शासन की बागडोर सँभालें तब केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रादेशिक शासन के साथ पत्र-व्यवहार करने में उन्हें कठिनाई का सामना न करना पड़े। पर यह तो भविष्य की बात हुई। वर्तमान सरकारी कर्मचारियों को किस प्रकार राष्ट्रभाषा का ज्ञान कराया जाय ? इसके लिए प्रत्येक प्रदेश में राष्ट्रभाषा सिखाने वाले कतिपय अध्यापकों की नियुक्ति की जाय, जो कम से कम ६ माह तक एक-एक जिले में शिविर लगायें और सरकारी कर्मचारियों को राष्ट्रभाषा का साधारण ज्ञान करायें।

इस प्रकार यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास किया जाय तो यह भाषा सर्वाङ्गीण पुष्टता प्राप्त करके विश्व की किसी भी उन्नत भाषा के साथ प्रतियोगिता कर सकेगी। हर्ष की बात है कि हमारी सरकार एवं जनता दोनों ही हिन्दी की उन्नति एवं विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। देश के प्रत्येक प्रदेश के निवासियों की अभिरुचि इसकी ओर है। वह दिन दूर नहीं है जब हमारी हिन्दी भाषा राष्ट्र के कोने-कोने में विराजमान् हो जायगी और इसका साहित्य विज्ञान, कला, शिल्पादि के देदीप्यमान रत्नों से जगमगाने लगेगा।

हमारी पंचवर्षीय विकास योजनाएँ

रूप-रेखा—

(१) प्रस्तावना—स्वतन्त्र भारत को विकास योजनाओं की आवश्यकता
(२) इन योजनाओं के उद्देश्य
(३) इन योजनाओं का स्वरूप
(४) सफलता
(५) उपसंहार—सारांश

जिस प्रकार आवश्यकता आविष्कार की जननी है, उसी प्रकार जन कल्याण की भावना विकास-योजनाओं की जननी है। यद्यपि १५ अगस्त १९४७ ई० को हमारे देश को विदेशी चंगुल से मुक्ति अवश्य मिल गई, तद्यपि जन-जीवन में सुख का संचार नहीं हो पाया। होता भी कैसे ? केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने से भोजन वस्त्र की समस्याएं हल नहीं हो सकती थीं। केवल परतन्त्रता की बेड़ी कट जाने से भुखमरी का अन्त नहीं हो सकता था। इसके लिये आवश्यकता थी देश में आर्थिक दशा सुधारने की। इसके लिये आवश्यकता थी विकास-योजनाएं बनाकर उन्हें क्रियान्वित करने की। अतः सन् १९५१ में भारतीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात किया जिसकी अवधि ३१ मार्च, १९५६ ई० को समाप्त हुई थी १ अप्रैल, १९५६ ई० से द्वितीय पंचवर्षीय योजना का श्री गणेश हुआ और व भी ३१ मार्च सन् १९६१ ई० को समाप्त हो गई। अब तृतीय पंचवर्षी योजना १ अप्रेल सन् १९६१ से आरम्भ हो चुकी है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन योजनाओं का उद्देश्य जन-जीवन सुख का संचार करना है, सर्व-साधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठ कर उनके जीवन को मधुर बनाने के लिये नवीन सुविधाएं प्रदान करना है सुखी जीवन के लिये भोजन-वस्त्र ही पर्याप्त नहीं है; स्वास्थ्य रक्षा, शिक्ष यातायात के सुखद साधन, मनोरंजन, सामाजिक समानता, सांस्कृतिक-विका आदि की भी आवश्यकता होती है। अतः इन योजनाओं में इन सब को स्था दिया गया है। इस प्रकार हमारी पंचवर्षीय योजनाएं देश के सामूहिक विकार के लिये प्रयत्नशील हैं। जहाँ वे व्यक्ति के लिये सुख-साधन जुटाएंगी, वहाँ वे उसमें सेवा, सहकारिता, श्रम के प्रति श्रद्धा, भ्रातृभाव आदि भावनायें भी उत्पन्न करेंगी।

इन विकास योजनाओं में सबसे महत्वपूर्ण स्थान अन्नोत्पादन को दिया गया है। वास्तव में अधिक अन्नोत्पादन पर ही देश की समृद्धि निर्भर है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या की उदर-पूर्ति के लिये आज हमारे देश में पर्याप्त अन्न नहीं उत्पन्न हो रहा है। कमी की पूर्ति विदेशों से की जा रही है। यह दशा संतोषजनक नहीं कही जा सकती। यही कारण है कि आज कृषि की

यथा-सम्भव श्रमदान से सम्पन्न करना होगा। जिस कार्य को दो हाथ करने में असमर्थ होते हैं उसे श्रमदान द्वारा सहस्त्रों हाथ सरलता-पूर्वक कर सकते हैं। बड़े-बड़े ऊसर भूभागों को कृषि-योग्य बनाना, यातायात के लिए जन-मार्ग तैयार करना, सिंचाई हेतु नहर, कुएँ अथवा तालाब खोदना, नदियों के जल वेग को रोकने के लिए बाँध बनाना, शिक्षा के लिए विद्यालय-भवनों का निर्माण करना, मलेरिया रोग उत्पन्न करने वाले गन्दे पानी के गड्ढों को पाटना, जन-कल्याण के लिए वृक्षावली आरोपित करना, बाढ़ को रोकने के लिए नाले खोदना आदि सार्वजनिक कार्य श्रमदान द्वारा सम्भव हैं। अवकाश के समय विद्यार्थी इन कार्यों को कर सकते हैं। प्रायः मई मास से ग्रीष्मावकाश का आरम्भ होता है; यदि प्रत्येक ग्राम के लिए पहले से ही कार्यक्रम निर्धारित कर लिया जाय तो ग्रीष्मावकाश आरम्भ होते ही स्थानीय अध्यापकों की देख-रेख में विद्यार्थियों से श्रमदान कराया जा सकता है। प्रत्येक विद्यार्थी वर्ष में कम से कम एक माह श्रमदान करे। ऐसा करना उसके लिए अनिवार्य हो। इसका उल्लेख उसकी परीक्षा के सार्टीफिकेट में हो।

आज हमारे देश की अधिकांश जनता निरक्षर है। उसका केवल दसमांश ही साक्षर कहा जा सकता है। बालक-बालिकाओं में तो शिक्षा का कुछ प्रसार हुआ भी है पर प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। अधिकांश के लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' ही है। हमारे गाँव तो पूर्णतः अशिक्षा के केन्द्र बने हुए हैं। वहाँ निरक्षरता का अखंड साम्राज्य है। स्वतंत्र भारत के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है। अतः प्रौढ़ साक्षरता के लिए आन्दोलन होना चाहिए। इस आन्दोलन में हमारे विद्यार्थी-वर्ग को आगे आना चाहिए। वही इस राष्ट्रोपयोगी कार्य को अपने हाथ में लें। प्रौढ़-साक्षरता-योजना के दो भाग होंगे, साक्षर बनाना और साक्षरता कायम रखना। साक्षर बनाने के लिए प्रौढ़ स्कूलों की स्थापना की जाय जिनमें अवकाश के समय प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाय। ग्रीष्म ऋतु इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त समय है, क्योंकि इन दिनों विद्यार्थियों की छुट्टी रहती है और कृषक भी कृषि-कार्य से छुट्टी पा जाते हैं। साक्षरता में लिखने-पढ़ने और हिसाब लगाने का ही समावेश किया

जाय। शिक्षा की अवधि तीन माह रखना उचित होगा। प्रौढ़ाओं की साक्षरता और भी महत्वपूर्ण है। अतः प्रौढ़ माताओं और बहिनों की साक्षरता का कार्य विद्यार्थिनियों को सँभालना चाहिए। यह तो हुई साक्षर बनाने की बात। अ साक्षरता कायम रखने की बात लीजिए। जब तक साक्षरों को निरक्षर होने से नहीं बचाया जायगा तब तक साक्षरता प्रसार योजना सफल नहीं हो सकेगी इस कार्य के सम्पादन के लिए पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना करनी होगी। प्रत्येक गाँव में एक पुस्तकालय-वाचनालय हो जिसका प्रबन्ध वहाँ के विद्यार्थियों के हाथ में हो। उसके खुलने का समय सबके लिए सुविधाजनक हो, जिससे अधिक से अधिक जनता लाभान्वित हो सके। यद्यपि आज कई गाँवों में पुस्तकालय-वाचनालय हैं, किंतु उनका संचालन सुचारुतापूर्वक नहीं हो रहा है। अतः ग्रामीण जनता को उनसे पूर्ण लाभ नहीं मिल रहा है। पुस्तकालय-वाचनालयों की सफलता में सबसे अधिक बाधक वस्तु ग्रामीण जनता की अरुचि है। गाँव वालों को न पुस्तक पढ़ने का शौक होता है और न पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का। अतः विद्यार्थी-वर्ग को उनमें शौक पैदा करने के प्रयत्न करने होंगे। अच्छी-अच्छी मनोरंजक कहानियाँ एवं समाचार सुनाने से इस दिशा में स[illegible] प्राप्त की जा सकती है।

[illegible]धुनिक भारत के नव-निर्माण के लिए संचालित योजनाओं की सफलता के लिए सहायता करना भी हमारे विद्यार्थी समाज का कर्तव्य है। अशिक्षा के कारण ग्रामीण जनता कई विकास-योजनाओं के महत्व को नहीं समझ पाती। उदाहरण के लिए, खाद्यान्न की उत्पादन में वृद्धि हेतु रासायनिक खादों के प्रयोग का महत्व हमारा किसान नहीं जानता। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे उसे उसका महत्व समझाएँ। अच्छा हो यदि विद्यालय के प्रांगण में एक भूभाग पर रासायनिक खादों का प्रयोग करते हुए और दूसरे भूभाग पर उनका प्रयोग न करते हुए कोई अन्न उत्पादित किया जाय और उसका तुलनात्मक प्रदर्शन गाँव के समस्त किसानों के समक्ष किया जाय। इस प्रणाली से रासायनिक खादों की उपयोगिता उनके हृदयंगम हो जायगी और वे उनका प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित होंगे। इसी प्रकार अन्य विकास-योजनाओं के अपनाने के लिए ग्रामीण जनता को तैयार करना हमारे विद्यार्थी-समाज का कार्य है।

ने निज राष्ट्रध्वजों के साथ उपस्थित होकर उपर्युक्त दो विशेष गुणों के ण ही आर्य चक्रवर्ती सम्राट् के प्रति अपनी मान्यतायें व्यक्त की हैं।

ईसामसीह ने जिस(Kingdom of Heaven)अर्थात् स्वर्ग के स्था की चर्चा बाइबिल में की है ऋषिवर ने उसी ईश्वरीय गुणयुक्त ाज्य की स्थापना की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया है। तक विश्व की राजनीति में इन दो महान् ईश्वरीय गुणों को पूरा-ा स्थान न मिलेगा तब तक विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित नहीं ो सकती। भय आशंकाओं का भूत राजनैतिक मस्तिष्कों को कभी त्य और न्याय का पुजारी नहीं बनने देने वाला है। संसार के १०० से अधिक छोटे-बड़े राष्ट्रों एवं राज्यों से मिल कर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई है और सह अस्तित्व के सिद्धान्त पर वह संघ विश्व में शान्ति स्थापना में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है किन्तु उसका तेजस्वी होना नितान्त आवश्यक है। शक्तिशून्य संयुक्त राष्ट्र संघ अन्यायी, अत्याचारी, आततायी शासकों का दमन नहीं कर सकता केवल अनुरोध करने ोई मानने वाला नहीं। जिस समय तक संसार के उच्च शक्तिशाली सत्य एवं न्याय को अपने प्रमुख सम्बल न बनावेंगे संसार में शांति ा चर्चा केवल चर्चा मात्र रहेगी।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पृष्ठ २६६ पर लिखा है कि वेदादि शास्त्रों की नीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया।" वेदादि शास्त्रों की नीति सत्य व न्याय आदि पर आधारित है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

आर्य साम्राज्यवाद में प्रजा-शोषण के लिए भूलकर भी स्थान न था। जनता की सबसे निम्न एवं उपेक्षित इकाई के उत्थान तक में सदा प्रयत्नशील रहना आर्य राजा का धर्म बतलाया गया है। "दरिद्रान्भर कौन्तेय" आदि घोषों में दरिद्रों का भरण-पोषण करना राजा का परम कर्तव्य ठहराया गया है।

नहीं कि पति-पत्नी का जीवन आपत्तियों के बादलों से आच्छ
संतान का भी जीवन कंटकाकीर्ण हो जायगा। इसके अ
माता-पिता की कुप्रवृत्तियों एवं दुर्गणों के प्रभाव से वंचित

वास्तव में स्त्री और पुरुष पति और पत्नी एक-दूस
पुरुष बिना अपूर्ण है और पुरुष स्त्री बिना। दोनों मिलकर
हैं। विवाह नामक संस्कार द्वारा दोनों का सम्बन्ध स्थापित
आत्माओं का सम्मेलन होता है जिससे पारस्परिक संयोग
आत्मोन्नति की योजना की जा सके। गार्हस्थ्य-जीवन की सुचा
आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि स्त्री और पुरुष का स
केवल सम्बन्ध जोड़ना ही पर्याप्त नहीं है। उस सम्बन्ध
नीय है। इसका ध्यान स्त्री और पुरुष दोनों को ही रखन
जीवन एक दूसरे पर न्यौछावर हो, दोनों का जीवन एक
दोनों का स्थान समान है। यदि पुरुष गृह स्वामी है तो
पुरुष का प्रधान कार्य जीविकोपार्जन, संतान-शिक्षा की
का विवाह और उनकी रक्षा है। स्त्री के प्रधान कार्य संता
खान-पान का प्रबन्ध, तीमारदारी और मनोरंजन-विधान है
अपने क्षेत्र हैं, अपने-अपने काम हैं। पृथक्-पृथक् क्षेत्र होते
पत्नी दोनों का लक्ष्य एक है। दोनों एक ही गार्हस्थ्य-जीवन
संरक्षण करते हुए सुख एवं शान्ति की योजना करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री का महत्व पुरुष से
नहीं। यदि नर अन्नदाता है तो नारी भोजन-दात्री। मात
स्तन्य से हमारा पोषण करती है, वह हमारी पालिका है।
का स्वागत करती हुई, सुखों की अवहेलना करती हुई,
हुई वह बाल्यावस्था में हमारा पालन करती है, हमें बड़ा क
और वृद्धावस्था में भी हम उसके उपकारों से वंचित नहीं।
का सदैव ऋणी है। क्या यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है कि
एवं अत्याचार के भार से दबी हुई और अविद्या के अन्धकार
को हम विद्या के शुभ्र-आलोक में लाकर सम्मान के आसन प